

तत्त्वार्थमणिप्रदीप

पृष्ठभूमि

मंगलाचरण

(दोहा)

शुद्धातम अर पंचपद नमकर बारम्बार ।
मणिप्रदीप प्रस्तुत करूँ तत्त्वार्थ का सार ॥

(रोला)

तत्त्वार्थ का सार सूत्र में जो प्रतिपादन ।
उमास्वामी ने किया परमपावन मनभावन ॥
पूज्यपाद अकलंक सु विद्यानन्द महोदय ।
टीकाकार महान संत सदभाग्य दयोदय ॥१॥
इन सबका ही सार सरल भाषा-शैली में ।
जन-जन के हित हेतु सहज अनुपम शैली में ॥
लिखने का है भाव भव्यजन इसे चाव से ।
पढना बारम्बार प्रेम से भक्तिभाव से ॥२॥

कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि पानेवाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से जैन समाज जितना अधिक परिचित है; उनके जीवन परिचय के संदर्भ में उतना ही अपरिचित है ।

कहा जाता है कि आचार्य उमास्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के पट्टशिष्य थे और विक्रम की प्रथम शताब्दी के अन्तिम काल में तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतभूमि को सुशोभित कर रहे थे ।

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी उन गौरवशाली आचार्यों में हैं, जिन्हें समग्र आचार्य परम्परा में पूर्ण प्रामाणिकता एवं असीम सम्मान प्राप्त है । उनके सूत्र ग्रन्थ महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्षशास्त्र को जैन परम्परा में वही स्थान प्राप्त है; जो स्थान हिन्दूधर्म में गीता को,

ईसाइयों में बाइबिल को और इस्लाम में कुरान को प्राप्त है। अधिकांश जैन ह्व मुख्यतः माता-बहिने ह्व इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं।

मात्र सात-आठ पृष्ठों में समाहित हो जानेवाली इस महानतम कृति के संदर्भ में कहा गया है कि ह्व

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।

फलं स्यादुपवासस्य भासितं मुनिपुङ्गवैः ॥

तत्त्वार्थसूत्र के दश अध्यायों के भाव को भलीभाँति जानकर उसका पाठ करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है ह्व ऐसा कथन मुनिपुंगवों अर्थात् श्रेष्ठ मुनिराजों द्वारा किया गया है।

गागर में सागर ह्व इस सूक्ति को सार्थक करनेवाला यह तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्र ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे गये जैन ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है।

सूत्र पद की परिभाषा जयधवल में इसप्रकार प्राप्त होती है ह्व

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम् ।

निर्दोषहेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः ॥^१

जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, संदेह से रहित हो, जिसमें सार भरा हो, गूढ पदार्थों का निर्णय करनेवाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो; उसे बुधजन सूत्र कहते हैं।

इस महान ग्रन्थ पर संस्कृत भाषा में आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति, आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक (सभाष्य) और आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक (सभाष्य) नामक वार्तिक लिखे; जो आज उपलब्ध हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ से छपे तत्त्वार्थराजवार्तिक में जो बोल्ड टाइप में है और जिन पर नम्बर डले हैं; वे वार्तिक हैं और नम्बरों के बाद जो सामान्य टाइप में मेटर दिया गया है, वह भाष्य है। इसीप्रकार श्लोकवार्तिक में वार्तिक श्लोकों में है और भाष्य गद्य में है।

१. पण्डित चेतनदास कृत, तत्त्वार्थसार वचनिका, पृष्ठ ३७

जिसमें सूत्रों के पदों का आश्रय लेकर प्रत्येक पद का विवेचन किया जाता है; उसे वृत्ति कहते हैं।

श्लोकवार्तिक में वार्तिक की परिभाषा इसप्रकार दी गई है ह्व

“वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्ति चोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम् ह्व सूत्र का अवतार नहीं होने देने का तथा सूत्रों के अर्थ को सिद्ध न होने देने का ऊहापोह या तर्कणा करना और उसका परिहार करना तथा ग्रन्थ के विशेष अर्थ को प्रतिपादित करना वार्तिक है।^१

सूत्र ग्रन्थों के विस्तृत विवेचन को भाष्य कहते हैं।^२

कहा जाता है कि आचार्य समन्तभद्र ने इस पर गंधहस्तिमहाभाष्य नामक भाष्य लिखा था, जो आज अनुपलब्ध है। कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण को आधार बनाकर लिखा गया देवागम स्तोत्र अर्थात् आत्ममीमांसा उस गंधहस्तिमहाभाष्य का ही मंगलाचरण है।

इस मंगलाचरणरूप देवागमस्तोत्र अर्थात् आत्ममीमांसा पर भी अकलंकदेव ने आठ सौ श्लोक प्रमाण अष्टशती नामक ग्रन्थ लिखा एवं आचार्य विद्यानन्द ने उक्त अष्टशती को गर्भित करते हुए आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नामक महान ग्रंथ लिखा।

इनके अतिरिक्त योगीन्द्रदेव कृत तत्त्वप्रकाशिका, अभयनन्दि कृत तत्त्वार्थवृत्ति, भास्करनन्दि कृत सुखबोधातत्त्वार्थवृत्ति आदि अनेक टीकायें संस्कृत भाषा में प्राप्त होती हैं।

हिन्दी भाषा में भी इस पर वचनिका के रूप में अनेक टीकायें लिखी गईं। आधुनिक विद्वानों ने भी इस पर कलम चलाई है। इसप्रकार यह जैनदर्शन का सर्वाधिक लोकप्रिय सर्वमान्य सूत्र ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ के दश अध्यायों में छोटे-बड़े कुल मिलाकर ३५७ सूत्र हैं और मंगलाचरण का एक छन्द है।

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ३, पृष्ठ ५३६

२. आदर्श हिन्दी शब्दकोश, पृष्ठ ५९९

इसके नाम में मूल शब्द 'तत्त्वार्थ' है। तत्त्वार्थों का अत्यन्त संक्षेप में प्रतिपादन होने से इस ग्रन्थ का नाम तत्त्वार्थसूत्र रखा गया। सूत्र का अर्थ ही संक्षिप्त होता है। मूल शब्द तत्त्वार्थ होने से ही सर्वार्थसिद्धि नामक इसकी टीका को तत्त्वार्थवृत्ति, राजवार्तिक नामक वार्तिक को तत्त्वार्थवार्तिक एवं श्लोकों में लिखे गये वार्तिक को तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक कहा गया। इसप्रकार हम देखते हैं कि इन ग्रन्थों में तत्त्वार्थों का सूत्र, वृत्ति और वार्तिकों में प्रतिपादन किया गया है।

इसप्रकार सर्वप्रथम विक्रम की द्वितीय शताब्दी के आरंभ में आचार्य उमास्वामी द्वारा तत्त्वार्थों का सूत्र के रूप में प्रतिपादन किया गया।

तदुपरान्त छठवीं शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दि द्वारा उक्त सूत्रों में प्रतिपादित तत्त्वार्थों का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए बारह हजार श्लोक प्रमाण तत्त्वार्थवृत्ति लिखी गई, जिसका नाम सर्वपदार्थों को सिद्ध करनेवाली होने से सर्वार्थसिद्धि रखा गया।

उसके बाद विक्रम की आठवीं शताब्दी में आचार्य अकलंकदेव ने उक्त तत्त्वार्थों का विस्तार से विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सोलह हजार श्लोक प्रमाण भाष्य सहित वार्तिक लिखे, जिसको तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थराजवार्तिक अथवा अकेला राजवार्तिक कहा गया।

तदुपरान्त विक्रम की नौवीं शताब्दी में आचार्य विद्यानन्द ने विशेष विस्तार से प्रतिपादन के लिए बीस हजार श्लोकों में भाष्य सहित वार्तिक लिखे, जिसका नाम तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रखा गया। इसे अकेले श्लोकवार्तिक नाम से भी जाना जाता है।

ध्यान रहे श्लोक प्रमाण में बत्तीस अक्षरों को एक श्लोक माना गया है। इसी के आधार पर ग्रन्थों के परिमाण की गणना की जाती रही है।

तत्त्वार्थों का सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के रूप में प्रतिपादन के अलावा अत्यधिक विस्तार से प्रतिपादन के लिए भाष्य भी लिखे गये।

कहते हैं कि विक्रम की द्वितीय शताब्दी के आचार्य समन्तभद्र ने

इस पर चौरासी हजार श्लोक प्रमाण एक महाभाष्य लिखा था; जो अभी अनुपलब्ध है। एक भाष्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी लिखा गया है, जिसका नाम तत्त्वार्थाधिगम भाष्य है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत महान ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर अत्यन्त गंभीर टीकायें प्रस्तुत करनेवाले एवं पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय जैसे श्रावकाचार तथा लघुतत्त्वस्फोट जैसे स्तुति काव्य के लेखक आचार्य अमृतचन्द्र ने भी तत्त्वार्थसूत्र को आधार बनाकर तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ लिखा है; जो गद्य में न होकर पद्य में है।

उक्त ग्रन्थ में भी तत्त्व या अर्थ का नहीं, अपितु तत्त्वार्थ का ही विवेचन है। इसके साथ लगा 'सार' पद इस बात का सूचक है कि इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्र के पूर्व लिखे गये तत्त्वार्थप्रतिपादक सभी शास्त्रों का सार समाहित है। यद्यपि यह बात परम सत्य है; तथापि तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखे गये इस शास्त्र में आचार्य अकलंकदेव के तत्त्वार्थ-राजवार्तिक का विशेष आधार लिया गया है।

अनुष्टुप् (श्लोक) छन्दों में लिखे गये इस तत्त्वार्थसार नामक शास्त्र में कुल मिलाकर ६८६ अनुष्टुप् (श्लोक) छन्द हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी महान ग्रन्थों का मूल आधार एकमात्र आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र ही है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई सर्वार्थसिद्धि वृत्ति और तत्त्वार्थराजवार्तिक के संदर्भ में कहा गया है कि ह

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्यलक्षणम्

प्रमाण शास्त्र में अकलंक का तत्त्वार्थराजवार्तिक और लक्षणशास्त्र में पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि मूल आधार ग्रन्थ हैं।

१. इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रमाणशास्त्र और लक्षणशास्त्र का मूल आधार भी तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई टीकायें ही हैं।

२. इसीप्रकार न्यायशास्त्र के आधार ग्रंथ भी इस ग्रन्थ के मंगलाचरण पर लिखी आसमीमांसा और उसकी टीका अष्टशती व अष्टसहस्री हैं।

३. इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि जैनदर्शन संबंधी प्रमाणशास्त्र, न्यायशास्त्र और लक्षणशास्त्र का मूल उद्गम यही ग्रंथराज है।

यह भी सर्वविदित ही है कि न्याय का सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुख भी आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक के आधार से लिखा गया है। न्यायशास्त्र में आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख सूत्र का वही स्थान है, जो स्थान सिद्धान्तशास्त्रों में तत्त्वार्थसूत्र का है।

परीक्षामुख सूत्र पर लिखी गई अनंतवीर्य आचार्य कृत प्रमेयरत्नमाला नामक टीका और प्रभाचन्द्राचार्यकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक महान ग्रन्थ का न्यायशास्त्र में वही स्थान है, जो स्थान सिद्धान्तशास्त्रों में सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक का है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि सम्पूर्ण न्यायशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं का ऋणी है।

प्राचीनकाल में किसी भी विषय के प्रतिपादन के लिए सूत्र, वृत्ति, वार्तिक और भाष्य लिखे जाते रहे हैं। जैनदर्शन में तत्त्वार्थ एक ऐसा विषय है, जिसका जानना मुक्तिमार्ग में अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि मुक्तिमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थों के श्रद्धान का ही नाम है।

तत्त्वार्थ क्या है ? ह इसका प्रतिपादन ही इन सभी ग्रन्थों का मूल प्रतिपाद्य है। तत्त्वार्थ सात होते हैं, उनका कथन प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र से ही आरंभ हो जाता है।

मोक्षमार्ग और मोक्ष का प्रतिपादन होने से इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। इसप्रकार इस ग्रन्थ के तत्त्वार्थसूत्र और मोक्षशास्त्र ह ये दो नाम प्रसिद्ध हैं।

ध्यान रहे वृत्ति, वार्तिक, भाष्य एवं हिन्दी वचनिकायें ह ये सब एक प्रकार से छोटी-बड़ी विभिन्न शैली में लिखी गई टीकायें ही हैं।

इसप्रकार इस छोटे से सूत्र ग्रन्थ पर लिखे गये गंभीर, विशाल और युक्तियुक्त ग्रन्थों की समृद्ध परम्परा है।

यह ग्रन्थराज जैन समाज द्वारा संचालित सभी परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है और भारतवर्ष के सभी जैन विद्यालयों में यह पढाया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार, प्रवचनसार और नियमसार ग्रन्थों पर लिखे गये मेरे अनुशीलनों को पढ़कर अनेक अध्यात्मप्रेमी आत्मार्थी बन्धुओं को यह तीव्रतम भाव आया कि मैं भी उक्त परम्परा को आधार बनाकर तत्त्वार्थों का विवेचन करूँ।

मुझे भी इसप्रकार का भाव था, पर जिन-अध्यात्म में विशेष रुचि होने से मेरी दृष्टि आचार्य कुन्दकुन्द पर ही केन्द्रित रही। विगत २२ वर्षों से मैं एक प्रकार से कुन्दकुन्दमय ही हो गया हूँ। इन दिनों मैंने आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों पर लगभग साठे सात हजार पृष्ठ लिखे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्र ग्रंथ में जैनदर्शन का मूल प्रतिपाद्य अत्यन्त संक्षेप में है। यद्यपि यह परमसत्य है कि सूत्र ग्रंथ में तो संक्षिप्त कथन ही होता है; तथापि यह इतना अधिक संक्षिप्त हो गया है कि यह ग्रंथ जैनदर्शन के मूल प्रतिपाद्य का मात्र सूची-पत्र बनकर रह गया है।

जो कुछ भी विस्तार है; वह सब टीका ग्रंथों में ही है। टीका ग्रंथों में भरपूर अवकाश था। अतः उनमें वह सबकुछ भरने का प्रयास किया गया है कि जिसकी अत्यन्त आवश्यकता थी।

उन टीका ग्रंथों में कुछ तो बहुत विस्तारवाले ग्रंथ हैं और कुछ अत्यन्त गंभीर हैं; अतः उन पर भी टीकायें लिखी गईं, विभिन्न भाषाओं में उनके अनुवाद हुए; इसप्रकार एक बहुत बड़ा वटवृक्ष खड़ा हो गया है।

अन्तर की गहराई से मुझे ऐसा प्रतीत होता रहा है कि मुझे भी इस धारा में अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करना चाहिए। इससे एक लाभ तो यह होगा कि मुझे इनका कुछ गहरा अध्ययन हो जावेगा।

दूसरी बात यह भी है कि मेरे साहित्य के अध्येता अध्यात्मरुचिवाले पाठकों को सहज ही इस विषय का कुछ न कुछ परिचय हो जावेगा।

आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र और उस पर लिखी टीकाओं में भी मेरी गहरी रुचि रही है। उनका अध्ययन भी मैंने यथासाध्य किया ही है। इस महाशास्त्र में अनेक ऐसे प्रसंग हैं; जिनके विशेष स्पष्टीकरण करने का भाव मुझे रहा है। मात्र उक्त प्रसंगों पर प्रकाश डालने की अपेक्षा सम्पूर्ण ग्रंथ पर प्रकाश डालना ही ठीक रहेगा हूँ इस विचार से ही इस तत्त्वार्थमणिप्रदीप ग्रंथ का जन्म हो रहा है।

यह तत्त्वार्थमणिप्रदीप ग्रंथ एक प्रकार से तत्त्वार्थसूत्र की टीका ही है।

मुझे विश्वास है कि यह तत्त्वार्थमणिप्रदीप ग्रंथ परमतत्त्वार्थरूप निज भगवान आत्मा के साथ-साथ सभी तत्त्वार्थों पर प्रकाश डालने में सफल होगा। इस सरल-सुबोध कृति से वे सभी आत्मार्थी भाई-बहिन लाभान्वित होंगे; जो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के साथ-साथ प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों से भी परिचित होना चाहते हैं।

यद्यपि इसप्रकार का भाव बहुत दिनों से चल रहा था; तथापि काललब्धि आये बिना तो कुछ संभव नहीं है।

लगता है अब इसकी काललब्धि आ गई है और मुझे तत्त्वार्थों की इस परम्परा पर लिखने का तीव्रतम भाव हो रहा है; पर इसका पूर्ण होना काललब्धि और होनहार पर निर्भर है; मेरा प्रयास तो रहेगा ही।

इसमें किसी को कुछ विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मैं इसे इस ढलती उम्र में अपनी चित्त शुद्धि के लिए लिख रहा हूँ; यदि इससे अन्य आत्मार्थी बन्धुओं को भी कुछ लाभ प्राप्त हो जावे तो मुझे प्रसन्नता होगी।

ध्यान रहे मेरी अध्यात्मरुचि का प्रतिफलन तो इसमें यत्र-तत्र होगा ही; पर मुख्य प्रतिपादन तो मूल ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयानुसार ही होगा।

यद्यपि प्रस्तावित इस ग्रन्थ के अनुशीलन में तत्त्वार्थसूत्र के संबंध में अद्यावधि उपलब्ध सभी साहित्य का यथासाध्य सहयोग लिया जायेगा, उपयोग किया जायेगा; तथापि अधिक विस्तार में न जाकर इसे मध्यमरूप में ही प्रस्तुत करने का विकल्प है; फिर यथासाध्य जो होगा, सो होगा। विशेष विकल्प करने से क्या लाभ है? ●

मंगलाचरण

(अनुष्टुभ्)

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥

(हरिगीत)

मोक्षमार्ग के नेता एवं कर्मपर्वतों के भेदक।

और विश्व के सब तत्त्वों के ज्ञायक चेतन संवेदक ॥

सद्गुण आप समान प्राप्त हों हूँ यही भावना भाकर देव।

विनयपूर्वक करूँ वन्दना बारम्बार जिनेश्वर देव ॥

मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेदक एवं विश्व के सभी तत्त्वों के ज्ञायक हे जिनेश्वरदेव ! मैं आपके समान गुणों की प्राप्ति के लिए आपकी बारम्बार वंदना करता हूँ।

कर्मरूपी पर्वतों के भेदक अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय हूँ इन चार घातिया कर्मों का अभाव कर देनेवाले एवं विश्व के सभी तत्त्वों अर्थात् सभी पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जाननेवाले हे वीतरागी-सर्वज्ञ अरहंतदेव ! आप दिव्यध्वनि द्वारा सभी भव्यजीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं; इसलिए हितोपदेशी हैं, मोक्षमार्ग के नेता हैं, मोक्षमार्ग में ले जानेवाले हैं।

उक्त गुणों की प्राप्ति मुझे भी हो हूँ इस भावना से मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो; वह आप है, सच्चा देव है। आप की परिभाषा में समागत उक्त तीन विशेषणों को आधार बनाकर ही उक्त छन्द में सच्चे देव को, अरहंत परमेष्ठी को, तीर्थंकर अरहंत को नमस्कार किया गया है।

उक्त गुणों को आधार बनाकर ही आचार्य समन्तभद्र ने आपमीमांसा, आचार्य विद्यानन्द ने आपपरीक्षा नामक ग्रन्थ लिखे हैं; जिनमें क्रमशः

आप्त के स्वरूप पर मीमांसा की गई है, आप्त की परीक्षा की गई है। इसप्रकार यह मंगलाचरण भी अनेक ग्रंथों का जनक है।

आप्तमीमांसा की टीकायें तो अष्टशती व अष्टसहस्री हैं ही; आचार्य विद्यानन्द कृत आप्तपरीक्षा की तीन हजार श्लोक प्रमाण टीका आचार्य श्री विद्यानन्द ने स्वयं ही लिखी है। यही कारण है कि उसे स्वोपज्ञटीका कहते हैं।

आप्तमीमांसा और उसकी टीकाओं में सर्वप्रथम सर्वज्ञता की सिद्धि सामान्यरूप से और विशेषरूप से की गई है।

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि का आशय यह है कि लोक में सर्वज्ञ की सत्ता है या नहीं? कोई व्यक्ति सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं? इस पर गंभीरता से मंथन कर अनेक तर्क और युक्तियों से यह सिद्ध करना कि लोक में सर्वज्ञ की सत्ता संभव है।

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि हो जाने के उपरान्त पूर्वापर अविरोधी वचनों के आधार पर अरहंत पद को प्राप्त किसी व्यक्ति विशेष को सर्वज्ञ सिद्ध करना विशेष सर्वज्ञसिद्धि है।

आप्तमीमांसा में सामान्य सर्वज्ञसिद्धि करने के उपरान्त पूर्वापर अविरोधी वचनों के आधार पर अरहंत भगवान को सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। साथ में यह भी बताया गया है कि पूर्वापर विरोधी वचनों के कारण कपिलादि सर्वज्ञ नहीं हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यहाँ तो आप अरहंत पद में सर्वज्ञता सिद्ध कर रहे हैं; अतः यह विशेष सर्वज्ञसिद्धि कहाँ हुई? अरहंत पद के सामान्य होने से यह भी एक प्रकार से सामान्य सर्वज्ञसिद्धि ही हुई।

उत्तर : ऐसा नहीं है; क्योंकि सामान्य सर्वज्ञसिद्धि में तो यह सिद्ध किया जाता है कि इस लोक में सर्वज्ञ की सत्ता संभव है। सबको जानना, प्रत्यक्ष जानना असंभव नहीं है ह्य मात्र यह सिद्ध करना ही सामान्य सर्वज्ञसिद्धि है।

अरहंत पद को प्राप्त व्यक्ति सब द्रव्यों को उनके गुण-पर्यायों

सहित एक समय में जानता है, जान लेता है ह्य यह सिद्ध करना विशेष सर्वज्ञसिद्धि है।

इस पर यदि कोई यह कहे कि ऋषभदेव या महावीर को सर्वज्ञ सिद्ध करना विशेष सर्वज्ञसिद्धि क्यों नहीं है?

तो उसका सहज उत्तर यही होगा कि ऋषभदेव या महावीर जन्म से लेकर देहान्त तक देह में रहनेवाले व्यक्ति का नाम है। ऋषभदेव या महावीर जन्म से सर्वज्ञ नहीं थे। अतः उनमें सर्वज्ञता सिद्ध करना अतिव्याप्त दोष से दूषित होगा; किन्तु अरहंत पद को प्राप्त व्यक्तिविशेष तो नियम से सर्वज्ञ होते ही हैं।

अतः अरहंत को सर्वज्ञ सिद्ध करना ही विशेष सर्वज्ञसिद्धि है ह्य यह कथन पूर्णतः निर्दोष है।

यही कारण है कि जैनागम में सर्वत्र यही कहा गया है कि जिणेहिं णिहिट्ठा ह्य जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, भणितो खलु सव्वदरिसीहिं ह्य सर्वदर्शी अरहंत भगवान के द्वारा कहा गया है। कहीं भी यह नहीं कहा गया कि ऋषभदेव ने कहा या महावीर ने कहा।

ध्यान रहे, असि, मसि, कृषि आदि का उपदेश राजा ऋषभदेव ने दिया था, अरहंत भगवान ऋषभदेव ने नहीं, सर्वज्ञ भगवान ने नहीं।

यह तो आप जानते ही हैं कि अरहंत पद प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय है; अतः हमें अरहंत बनना है, पर महावीर नहीं बनना है, ऋषभदेव भी नहीं बनना है।

प्रश्न : दीक्षा लेते समय नाम बदलने का कारण भी क्या यही हो सकता है?

उत्तर : हो क्या सकता है, होता ही है; क्योंकि जिसप्रकार का शुद्ध सात्त्विक जीवन मुनि अवस्था में होता है; उसप्रकार का शुद्ध सात्त्विक जीवन उसके पूर्व गृहस्थ जीवन में कैसे हो सकता है?

प्रश्न : इसप्रकार तो तीर्थकर पद के बारे में भी प्रश्न खड़ा हो सकता है?

उत्तर : नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि तीर्थकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होने से तीर्थकर तो नियम से सर्वज्ञ होते हैं।

वस्तुतः बात तो यह है कि तेरहवें गुणस्थान के पहले कोई व्यक्ति न तो सर्वज्ञ है, न अरहंत है और न तीर्थकर ही है। ये तीनों अवस्थाएँ एक साथ ही प्रगट होती हैं। वस्तुतः बात यह है कि यहाँ तेरहवें गुणस्थानवर्ती तीर्थकर अरहंत भगवान को ही आप कहा गया है।

इसप्रकार आप्तमीमांसा में सर्वप्रथम दोनों सर्वज्ञसिद्धियों को सफलतापूर्वक स्थापित करने के बाद स्याद्वाद के माध्यम से अनेकान्त की स्थापना की गई है।

आप्तपरीक्षा में मुख्यरूप से जगतकर्ता ईश्वर, सुगत, कपिल आदि की परीक्षा करते समय अनेक तर्क और युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि वे सर्वज्ञ नहीं थे और अन्त में अरहंत भगवान सर्वज्ञ थे ह्व यह सिद्ध किया है।

इसप्रकार सम्पूर्ण न्यायशास्त्र का मूल आधार यह तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ और उसकी टीकायें ही रही हैं।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ मंगलाचरण में तीर्थकर अरहंत परमात्मा की स्तुति में न तो किसी भी प्रकार के अतिशयों की चर्चा की गई है और न किसी भी प्रकार की लौकिक कार्यों की सिद्धि, विषयभोगों की प्राप्ति, शत्रुओं के पराभव एवं धन-सम्पत्ति प्राप्ति की कामना की गई है। वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए ही वीतरागभाव से की गई है; उनकी दिव्यध्वनि सुनने की भावना से की गई है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि इस मंगलाचरण के छन्द को आधार बनाकर लिखा गया आचार्य समन्तभद्र कृत देवागम स्तोत्र व अन्य स्तुति साहित्य न केवल सर्वोत्कृष्ट एवं आदर्श स्तुति साहित्य है, अपितु जैन न्याय का मूल उद्भव स्थान भी है।

आज के स्तुति साहित्य में तो अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गई हैं। वीतरागी सर्वज्ञ भगवान को कर्ता-धर्ता बताकर, उनसे भोगों की भीख माँगना, अनेक प्रकार के संकटों से उबारने की प्रार्थना करना; यहाँ तक कि कल्पित शत्रुओं के विनाश करने की प्रार्थना करना तो आम बात हो गई है।

यद्यपि जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों के विरोधी इसप्रकार के स्तुति साहित्य को जैन स्तुति साहित्य कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता; तथापि व्यर्थ के विवाद से बचने के लिए यह सब व्यवहारनय से किया गया उपचरित कथन है ह्व ऐसा कहकर-मानकर उपेक्षणीय है।

तात्पर्य यह है कि एकमात्र वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा ही इष्टदेव हैं; और उनकी दिव्यध्वनि में समागत वीतरागी तत्त्वज्ञान ही एकमात्र उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है।

वस्तुतः विचार किया जाय तो एकमात्र त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ही जानने योग्य है, निजरूप जानने-मानने योग्य है, उसमें ही अपनापन स्थापित करना है, उसमें ही जमना-रमना है; इसका नाम ही निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। एकमात्र यही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तीर्थकर अरहंत भगवान; दिव्यध्वनि के माध्यम से मुक्तिमार्ग का स्वरूप बताकर भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग में ले जाते हैं; इसलिए वे मोक्षमार्ग के नेता हैं। चार घातिया कर्म के उदय से होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि अठारह दोषों से रहित होने से कर्मरूपी पर्वतों के भेदक पूर्ण वीतरागी हैं। केवलज्ञान के धारक होने से अपने आत्मा के साथ-साथ द्रव्य-गुण-पर्याय सहित लोक के समस्त पदार्थों को हाथ पर रखे हुए आंवले के समान जानने के कारण सर्वज्ञ हैं।

उनकी वाणी पूर्वापर विरोध से रहित पूर्णतः सत्य है। असत्य या तो अज्ञान से बोला जाता है या फिर राग-द्वेष से। वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान के न तो राग-द्वेष हैं और न अज्ञान है; अतः उनकी वाणी सत्य है, अत्यन्त हितकारी है। जो व्यक्ति उनके बताये मुक्तिमार्ग पर चलता है, वह भी वीतरागी-सर्वज्ञ हो जाता है, अनंत सुख-शान्ति को प्राप्त करता है; यही कारण है कि उन्हें हितोपदेशी कहा जाता है।

इसप्रकार अनेक शास्त्रों के मूलाधार इस मंगलाचरण के छन्द में वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत भगवान को, उन जैसा बनने की भावना से नमस्कार किया गया है। ●

मोक्षमार्ग

मंगलाचरण के उपरान्त अब सर्वप्रथम मुक्तिमार्ग की चर्चा आरंभ करते हैं। यह महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र मोक्षमार्ग के निरूपण से आरंभ होता है और मोक्ष के स्वरूप प्रतिपादन पर समाप्त होता है। इसके दशवें अर्थात् अन्तिम अध्याय में मोक्षतत्त्व का ही निरूपण है। इसतरह इसका मोक्षशास्त्र नाम भी सार्थक ही है।

अब सबसे पहले मोक्षमार्ग का स्वरूप समझाते हैं।

मानो सांसारिक दुःखों से संतप्त कोई आसन्न भव्यजीव; आचार्य उमास्वामी से पूछ रहा हो कि हे प्रभो ! इन दुःखों से, राग-द्वेष से, कर्मों से छूटने का उपाय क्या है, इनसे मुक्त होने का उपाय क्या है ?

उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं ह

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है, इन सांसारिक दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह ये तीन अलग-अलग तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं, यह बताने के लिए उक्त सूत्र के **मोक्षमार्गः** ह इस पद में एक वचन का प्रयोग किया गया है।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आदि में लगा हुआ सम्यक् पद मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के निषेध के लिए है; अतः इस सम्यक् पद को दर्शन, ज्ञान और चारित्र ह इन तीनों के साथ लगाना चाहिए; क्योंकि यह पद आदि दीपक है।

जो पद वाक्य के आरंभ में लगा हो और वाक्य में समागत अनेक महत्त्वपूर्ण पदों के साथ लगाना आवश्यक हो, उसे **आदि दीपक** कहते हैं। इसीप्रकार जो पद वाक्य के **मध्य** या **अन्त** में हो, पर उसे वाक्य में समागत अनेक महत्त्वपूर्ण पदों के साथ लगाना आवश्यक हो तो उसे क्रमशः **मध्यदीपक** या **अन्तदीपक** कहते हैं।

जिसप्रकार दीपक को चाहे घर के आदि में रखें, चाहे मध्य में रखें या अन्त में रखें; वह दीपक अपनी सामर्थ्य के अनुसार सम्पूर्ण घर को प्रकाशित करता है; उसीप्रकार यहाँ सम्यक् पद दर्शन, ज्ञान और चारित्र ह इन तीनों को प्रकाशित करता है, तीनों में लगकर विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि करता है, उन्हें निर्दोष बनाता है।

हम यह भी कह सकते हैं कि दर्शन के साथ लगा सम्यक् पद तत्त्वार्थों के संबंध में या आत्मतत्त्व के संबंध में होनेवाले **विपरीत अभिप्राय के निषेध के लिए** है; ज्ञान के साथ लगा सम्यक् पद तत्त्वार्थों या आत्मतत्त्व के संबंध में किसी भी प्रकार के संशय, विपर्यय और अनध्यवसानरूप अज्ञान के निषेध के लिए है और चारित्र के साथ लगा सम्यक् पद अज्ञानपूर्वक होनेवाले आचरण के निषेध के लिए है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह इन तीनों की एकता ही सच्चा मोक्षमार्ग है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है तो क्या मुनिलिंग धारण करना, व्रत-उपवासादि करना मुक्तिमार्ग नहीं है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह

“वहाँ कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कारण तो ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता, और जिनके होने पर कार्य हो या न भी हो। जैसे ह मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता; परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता।

तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यतः तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसी के बिना हुए भी कार्यसिद्धि होती है। जैसे ह अनशनादि बाह्य तप का साधन करने पर मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु भरतादिक के बाह्य तप किये बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हुई।

तथा कितने ही कारण ऐसे हैं, जिनके होने पर कार्यसिद्धि होती ही

होती है, और जिनके न होने पर सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसे ह्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष होता ही होता है और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

ऐसे यह कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव, सो मोक्षमार्ग जानना। इन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र में एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता।^१”

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही सच्चा मोक्षमार्ग है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की चर्चा आगे यथास्थान पूरे विस्तार के साथ होगी; तथापि उन्हें सामान्यरूप से यहाँ भी जान लेना उपयोगी है।

जीवादि तत्त्वार्थों को भलीभाँति जानकर उनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है; उन्हें स्व-पर भेदविज्ञानपूर्वक भलीभाँति जानना सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष से निर्वृत्त होना सम्यक्चारित्र है।

यदि निश्चयनय से विचार करें तो अपने में अपनापन ही सम्यग्दर्शन है, स्वयं को स्वयंरूप जानना सम्यग्ज्ञान है और स्वयं में ही जम जाना, रम जाना, समा जाना सम्यक्चारित्र है।

छहढाला नामक ग्रन्थ में पण्डित दौलतरामजी निश्चय रत्नत्रय अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्य

परद्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।

आपरूप को जानपनों सो सम्यग्ज्ञान कला है ॥

आपरूप में लीन भये थिर सम्यक् चारित्र सोई।

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये हेतु नियत को होई ॥^२

परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा में रुचि होना अर्थात् अपनेपन का भाव होना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है और वह निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मकल्याणकारी होने से अत्यन्त भला है, अच्छा है।

अपने आत्मा को जानना, निजरूप जानना ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की कला अपने आत्मा को जानने में ही है, आत्मा को निजरूप जानने में ही है।

अपने आत्मा में लीन होना, स्थिर होना, आत्मा में ही जम जाना, रम जाना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार निश्चय रत्नत्रय का निरूपण करके अब व्यवहार मोक्षमार्ग की चर्चा करेंगे; जो इस निश्चय रत्नत्रय का हेतु है।

इसके बाद छहढाला की तीसरी ढाल में व्यवहारचारित्र का विस्तार से निरूपण है।

न केवल इस मोक्षशास्त्र नामक शास्त्र का, अपितु सम्पूर्ण जिनागम का एकमात्र मूल प्रतिपाद्य ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही है; क्योंकि इन तीनों की एकता की उपलब्धि ही अनन्त दुःखों से मुक्ति का एकमात्र उपाय है, मुक्तिमार्ग है।

जिन भव्यजीवों को अनन्त दुःखों से मुक्त होना हो, वे इस मुक्तिमार्ग का सेवन करें, रत्नत्रय को धारण करें। ●

सम्यग्दर्शन

ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्या हैं ? ह्व ऐसा पूछे जाने पर सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाते हैं ह्व

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

तत्त्वार्थ का श्रद्धानं सम्यग्दर्शन है ।

तत्त्वार्थ पद तत्त्व और अर्थ ह्व इन दो शब्दों से मिलकर बना है । इनमें तत्त्व शब्द भाववाची है और अर्थ शब्द वस्तुवाची है ।

तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु को जानने के लिए उस वस्तु के साथ उसके भाव को भी जानना चाहिए ।

जिसप्रकार किसी धातु से निर्मित विशिष्ट आकार वाली गिलास नामक एक वस्तु है और जलादि तरल पदार्थों को धारण करना उसका भाव है, कार्य है ।

यदि कोई व्यक्ति उस वस्तु को, वस्तु के आकार-प्रकार को भाव सहित जानता है तो वह उस वस्तु या उस जैसी वस्तु से अपने प्रयोजन को साध लेगा । तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की पहिचान तभी सच्ची होगी, जब हम उस वस्तु को भी जाने और उसके भाव (कार्य) को भी जाने । इसप्रकार भाव सहित वस्तु ही तत्त्वार्थ है ।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की दृष्टि में तत्त्वार्थ का भाव इसप्रकार है ह्व

“यहाँ यदि तत्त्वश्रद्धानं ही कहते तो जिसका यह भाव (तत्त्व) है, उसके श्रद्धानं बिना केवल भाव ही का श्रद्धानं कार्यकारी नहीं है । तथा यदि अर्थश्रद्धानं ही कहते तो भाव के श्रद्धानं बिना पदार्थ का श्रद्धानं भी कार्यकारी नहीं है ।

जैसे ह्व किसी को ज्ञान-दर्शनादिक व वर्णादिक का तो श्रद्धानं हो; ह्व यह जानपना है, यह श्वेतपना है, इत्यादि प्रतीति हो; परन्तु ज्ञान-

दर्शन आत्मा का स्वभाव है, मैं आत्मा हूँ; तथा वर्णादि पुद्गल का स्वभाव है, पुद्गल मुझसे भिन्न-अलग पदार्थ है; ऐसा पदार्थ का श्रद्धानं न हो तो भाव का श्रद्धानं कार्यकारी नहीं है ।

तथा जैसे ‘मैं आत्मा हूँ’ ह्व ऐसा श्रद्धानं किया; परन्तु आत्मा का स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धानं नहीं किया तो भाव के श्रद्धानं बिना पदार्थ का भी श्रद्धानं कार्यकारी नहीं है । इसलिए तत्त्व सहित अर्थ का श्रद्धानं होता है सो ही कार्यकारी है । अथवा जीवादिक को तत्त्वसंज्ञा भी है और अर्थ संज्ञा भी है । इसलिए ‘तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः’ जो तत्त्व है, सो ही अर्थ है; उनका श्रद्धानं सो सम्यग्दर्शन है ।

इस अर्थ द्वारा कहीं तत्त्वश्रद्धानं को सम्यग्दर्शन कहे और कहीं पदार्थश्रद्धानं को सम्यग्दर्शन कहे, वहाँ विरोध नहीं जानना ।^१”

टोडरमलजी के उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि न तो अकेले अर्थ (वस्तु) का श्रद्धानं कार्यकारी है और न अकेले तत्त्व (भाव) का श्रद्धानं ही कार्यकारी है । अतः जैनदर्शन में कहीं तत्त्वश्रद्धानं को सम्यग्दर्शन कहा हो या अर्थ श्रद्धानं को सम्यग्दर्शन कहा हो; उसका भाव तत्त्वार्थ के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए ।

समयसार में भूतार्थनय से जाने हुए नव तत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन कहा है ।^२ भूतार्थनय का आशय निश्चयनय से है । तात्पर्य यह है कि हमें यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करनी है तो निश्चयनय से तत्त्वार्थों को भलीभाँति समझना चाहिए ।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि समयसार में अकेले भूतार्थनय से जाने हुए नव तत्त्वों को सम्यग्दर्शन कहा और यहाँ जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धानं को सम्यग्दर्शन कहा और उनके अधिगम के उपाय के रूप में प्रमाण और नयों को प्रस्तुत किया है; इससे स्पष्ट है कि यहाँ प्रमाण व नयों से जाने हुए जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धानं को सम्यग्दर्शन कहा जा रहा है । इसप्रकार इन दोनों कथनों में मतभेद क्यों है, अन्तर क्यों है ?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३१६

२. समयसार, गाथा १३

इसप्रकार के प्रश्न का उत्तर समयसार अनुशीलन भाग १ में इसप्रकार दिया गया है ह

“यह मतभेद नहीं, विवक्षाभेद है। यदि दोनों कथनों की विवक्षायें समझ ली जावें तो कोई आशंका नहीं रहेगी।

तत्त्वार्थसूत्र का कथन सैद्धान्तिक कथन है और समयसार का कथन आध्यात्मिक कथन है। तत्त्वार्थसूत्रकर्ता को सप्त तत्त्वार्थों का प्रमाण और नयों से गुण-पर्याय सहित, सर्वांग विवेचन अभीष्ट था, जैसा कि उन्होंने आगे किया भी है।

जीवों के संसारी-सिद्ध सभी भेद बताये, उनके रहने के स्थानों की चर्चा की। अजीवादि तत्त्वों का भी इसीप्रकार विस्तृत विवेचन किया। आस्रव में सत्तावन प्रकार के आस्रव बताये, उनके शुभाशुभभेद करके व्रतों का वर्णन भी किया। बंधतत्त्व में कर्मों की प्रकृतियाँ गिनाई, निर्जरा में भी उसके उपायों की विस्तृत समीक्षा की। पर समयसार में यह सब नहीं है, समयसार की प्रतिपादनशैली ही अलग है। समयसार में तो सभी तत्त्वों में प्रकाशमान आत्मज्योति को ही खोजा गया है।

सर्वत्र आत्मज्योति को खोजना भूतार्थनय का ही कार्य है। भूतार्थनय ही यह महान कार्य कर सकता है। अतः समयसार के आरंभ में ही, इस तेरहवीं गाथा में ही यह घोषित कर दिया कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं और आगे सभी तत्त्वों की मीमांसा भी इसी नय से प्रस्तुत की है, सर्वत्र आत्मज्योति को ही खोजा गया है।

रही बात तत्त्वों की संख्या में सात और नौ के अन्तर की, सो यह कोई बात नहीं है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य और पाप को आस्रव-बंध में शामिल कर लिया गया है और समयसार में उन्हें अलग कह दिया गया है। ह बस इतनी ही बात है।^१”

विभिन्न शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की विभिन्न प्रकार की अनेक परिभाषायें प्राप्त होती हैं, जिनमें चार प्रमुख हैं; जो इसप्रकार है ह

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ १४५-१४६

१. जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

२. आपापर का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

३. आत्मश्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

४. देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान या देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

इन सबका समन्वय पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक में विस्तार से किया है; जो मूलतः पठनीय है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरण में न केवल सम्यग्दर्शन की चारों परिभाषाओं में सहेतुक समन्वय स्थापित किया है, अपितु वहाँ तत्त्वार्थसूत्र में समागत तत्त्वार्थश्रद्धान नामक परिभाषा की मुख्यता क्यों की है ह यह भी बताया है।^१

लगभग ८ पृष्ठों का उक्त प्रकरण विस्तार भय से यहाँ देना संभव नहीं है; अतः यहाँ यह अनुरोध किया जा रहा है कि जिन लोगों को उक्त विषय में विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें उक्त प्रकरण का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

यद्यपि दर्शन शब्द का अर्थ देखना होता है, सामान्य अवलोकन होता है; तथापि यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से दर्शन शब्द का प्रयोग श्रद्धान के अर्थ में हुआ है। श्रद्धान का अर्थ प्रतीति है, विश्वास है; इसप्रकार तत्त्वार्थ की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वार्थों को जाने बिना प्रतीति संभव नहीं है; यही कारण है कि आगे तत्त्वार्थों के नाम गिनाकर उन्हें जानने के उपायों की चर्चा आरंभ करेंगे।

11

उक्त तत्त्वार्थों को जानकर उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ह स्वभाव से या अधिगम से अर्थात् अपने आप या परोपदेश से। अब आगामी सूत्र में उक्त सन्दर्भ में वस्तुस्थिति को स्पष्ट करेंगे।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३२३ से ३३० तक

सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा भेद

यद्यपि यहाँ दूसरे सूत्र के अनुसार तत्त्वार्थ की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; तथापि आचार्य यहाँ तत्त्वार्थों की चर्चा करने से पहले उक्त सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बारे में दिशा-निर्देश करना आवश्यक समझते हैं, जो इसप्रकार है ह

तत्रिसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है ह प्रथम निसर्ग से, स्वभाव से अर्थात् स्वयं से और दूसरा अधिगम से, ज्ञान से, परोपदेश से।

इसप्रकार उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन दो प्रकार का हो गया ह
१. निसर्गज और २. अधिगमज।

यद्यपि यह अकाट्य सत्य है कि देशनालब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती; तथापि निसर्गज सम्यग्दर्शन और अधिगमज सम्यग्दर्शन में अन्तर मात्र इतना ही है कि निसर्गज सम्यग्दर्शनवालों को वह देशनालब्धि पूर्वभव में प्राप्त हो जाती है और उसके संस्कार के निमित्त से वर्तमान भव में साक्षात् उपदेश के बिना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार हुए सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जिन जीवों को इसी भव में देव-शास्त्र-गुरु या ज्ञानी धर्मात्माओं के उपदेशपूर्वक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; उनके उस सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में परपदार्थों से भिन्न निज भगवान् आत्मा में अपनेपनरूप दृढ प्रतीतिरूप उपादान और अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ और मिथ्यात्व का क्षय, क्षयोपशम और उपशमरूप अंतरंग निमित्त तो समानरूप से पाये ही जाते हैं; मात्र परोपदेशरूप बाह्य निमित्त में ही इतना अन्तर होता है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन में

पूर्वभव में प्राप्त उपदेश का संस्कार बाह्य निमित्त होता है और अधिगमज सम्यग्दर्शन में इसी भव में प्राप्त परोपदेशरूप बाह्य निमित्त होता है।

अरे, भाई ! सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन है; वह निसर्ग से, स्वभाव से हुआ या परोपदेश से ह इससे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यहाँ तो मात्र यह बताया गया है कि वह सम्यग्दर्शन किसी को पूर्वभव के संस्कार के निमित्त से स्वतः हो जाता है और किसी को सद्गुरु के सत्समागम से सदुपदेश पूर्वक होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनरूप कार्य का; स्वभाव का नियामक त्रिकाली उपादानरूप कारण तो स्वयं का आत्मा या उसका श्रद्धा गुण है; विधि/प्रक्रिया का नियामक, क्षणिक उपादान नम्बर एक अनन्तरपूर्व-क्षणवर्ती पर्याय के व्ययरूप आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ है तथा काल का नियामक क्षणिक उपादान नम्बर दो तत्समय की योग्यता है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होनेरूप कार्य का; स्वभाव का नियामक आत्मा का श्रद्धागुणरूप त्रिकाली उपादान, विधि या प्रक्रिया का नियामक अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय के व्ययरूप क्षणिक उपादान नम्बर एक एवं काल का नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान नम्बर दो है।

जब उक्त उपादानों के बल पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक सम्यग्दर्शन रूप कार्य उत्पन्न हो रहा होता है; तब निमित्त के रूप में तत्संबंधी कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप अंतरंग निमित्त तो होता ही है।

बाह्य निमित्त के रूप में यदि पूर्वकाल में प्राप्त उपदेश का संस्कार निमित्त हो तो उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और वर्तमान में प्राप्त परोपदेश निमित्त हो तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसप्रकार निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन में मात्र बहिरंग निमित्त का ही अन्तर है; तीनों उपादानकारण और अंतरंग निमित्त तो समान ही हैं।

सात तत्त्व

दूसरे सूत्र में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा था। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि तत्त्वार्थ कितने प्रकार के होते हैं और वे कौन-कौन हैं ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहते हैं ह

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ह्ये सात तत्त्व हैं। यद्यपि पुण्य और पाप तत्त्व आस्रव व बंध में शामिल हैं; तथापि यदि उनका पृथक् से उल्लेख करें तो इन्हें मिलाकर तत्त्व नौ प्रकार के हो जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि सम्यग्दर्शन की परिभाषा में तो तत्त्वार्थों की चर्चा की गई थी; पर यहाँ तो तत्त्वों की बात की जा रही है।

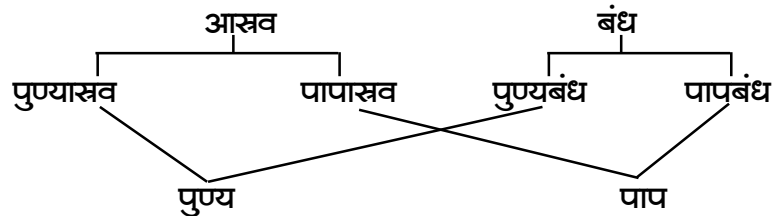
उत्तर ह्ये बात एक ही है। यहाँ तत्त्वार्थों को ही तत्त्व कहा जा रहा है। पूर्व में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि चाहे हम तत्त्व कहें, चाहें अर्थ कहें या फिर तत्त्वार्थ कहें ह्ये इस प्रकरण में तीनों का अर्थ एक ही समझना चाहिए।

प्रश्न ह्ये पुण्य और पाप आस्रव-बंध में किस प्रकार शामिल होते हैं?

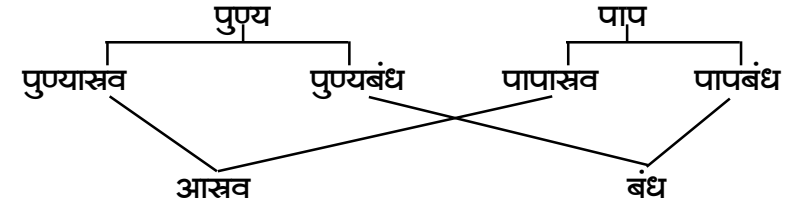
उत्तर ह्ये आस्रव भी दो प्रकार का होता है और बंध भी दो प्रकार का होता है। वह इसप्रकार है ह्ये

१. पुण्यास्रव और २. पापास्रव । १. पुण्यबंध और २. पापबंध ।

इसे हम इसप्रकार समझ सकते हैं ह्ये



इसे हम इस रूप में भी समझ सकते हैं ह्ये



यद्यपि यहाँ सात या नौ तत्त्व ही कहे हैं; तथापि उक्त नौ तत्त्व भी हैं, अर्थ भी हैं और तत्त्वार्थ भी हैं। यहाँ इस सूत्र में तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है; अतः यहाँ तत्त्वार्थ ग्रहण करना ही उचित है।

इन तत्त्वार्थों का सामान्य स्वरूप इसप्रकार है ह्ये

१. जीव ह्ये ज्ञान-दर्शनस्वभावी/ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व अथवा जीव तत्त्वार्थ कहते हैं।

२. अजीव ह्ये ज्ञान-दर्शनस्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त पुद्गलादि पदार्थ अजीव तत्त्व या अजीव तत्त्वार्थ हैं।

इन शरीरादि सभी पदार्थों से भिन्न चेतन तत्त्व आत्मा ही जीव है। वह आत्मारूप जीव मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न सभी पुद्गलादि पदार्थ अजीव हैं।

इसप्रकार सामान्य से तो जीव और अजीव ह्ये दो द्रव्य पदार्थ ही तत्त्वार्थ हैं। आस्रवादिक तो इन जीव-अजीव तत्त्वार्थों के सम्मिलित विशेष हैं, असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं।

तत्त्वार्थ दो प्रकार के होते हैं ह्ये द्रव्य तत्त्वार्थ और पर्याय तत्त्वार्थ। जीव और अजीव द्रव्यरूप तत्त्वार्थ हैं और शेष आस्रवादिक असमानजातीयद्रव्यपर्यायरूप तत्त्वार्थ हैं।

पर्यायरूप तत्त्वार्थ द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उन्हें हम इसप्रकार जान सकते हैं ह्ये

१. भावास्रव और द्रव्यास्रव
२. भावबंध और द्रव्यबंध
३. भावसंवर और द्रव्यसंवर
४. भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा

५. भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष ६. भावपुण्य और द्रव्यपुण्य

७. भावपाप और द्रव्यपाप

इनका स्वरूप इसप्रकार है ह

१. भावास्रव और द्रव्यास्रव ह जिन मोह-राग-द्वेषरूप भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन मोह-राग-द्वेष भावों को तो भावास्रव कहते हैं और उसके निमित्त से कार्माणवर्गणाओं का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमना द्रव्यास्रव है।

२. भावबंध और द्रव्यबंध ह मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभाव भावों में आत्मा का रुक जाना भावबंध है और उसके निमित्त से कार्माणवर्गरूप पुद्गल का स्वयं कर्मरूप होकर आत्मा से बंधना एकक्षेत्रावगाहरूप होना द्रव्यबंध है।

३. भावसंवर और द्रव्यसंवर ह पुण्य-पाप के विकारी भावों (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध (वीतरागी) भावों से रोकना, वीतरागभाव रूप परिणमना भावसंवर है और तदनुसार नये कर्मों का स्वयं आना रुक जाना द्रव्यसंवर है।

४. भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा ह ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूपस्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश होना सो भाव-निर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़ कर्म का अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

५. भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष ह अशुद्ध दशा का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रकट होना भाव-मोक्ष है और उसके निमित्त से द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश (अभाव) होना द्रव्यमोक्ष है।

६. भावपुण्य और द्रव्यपुण्य ह अघाति कर्मों की पुण्य प्रकृतियों के बंधने में आत्मा के जो दया-दानादि शुभभाव निमित्त हैं; वे शुभभाव

भावपुण्य हैं और उनके निमित्त से अघाति कर्मों की जो पुण्य प्रकृतियाँ बंधती हैं; वे द्रव्यपुण्य हैं।

७. भावपाप और द्रव्यपाप ह आत्मा के जिन मोह, द्वेष और अशुभरागरूप भावों से घातिकर्म और अघातिकर्म की पाप प्रकृतियोंरूप द्रव्यपापों का बंध होता है, वे भाव भावपाप हैं। ज्ञानावरणादि चार घातिकर्म और अघातिकर्मों की पाप प्रकृतियाँ द्रव्यपाप हैं।

पुण्य और पाप, आस्रव-बंध के ही अवान्तर भेद हैं। शुभ राग से पुण्य का आस्रव और बंध होता है और अशुभ राग, द्वेष और मोह से पाप का आस्रव और बंध होता है।

जीव और अजीव द्रव्यतत्त्व हैं, मूलतत्त्व हैं; अतः उन्हें सर्वप्रथम रखा गया। उसके बाद संसारपूर्वक मोक्ष होने के कारण पहले संसार के कारणरूप आस्रव और बंध, उसके बाद मुक्ति के कारणरूप संवर और निर्जरा ह इन पर्यायतत्त्वों को रखा गया है। अन्त में मुक्ति होने से मोक्षतत्त्व को अन्त में रखा गया है।

सर्वप्रथम जीव और उसके बाद जीव के अभावस्वरूप होने से अजीव को रखा गया। उसके बाद आस्रवपूर्वक बंध होने से पहले आस्रव और उसके बाद बंध को रखा गया। इसीप्रकार संवरपूर्वक निर्जरा होने से संवर को पहले और निर्जरा को बाद में रखा गया तथा संवर-निर्जरापूर्वक होने से मोक्ष को उनके बाद रखा गया है अथवा अन्त में प्राप्त होने से मोक्ष को अन्त में रखा गया है।

इस सूत्रग्रन्थ में जीवादि तत्त्वों को जिस क्रम में रखा गया है; उसी क्रम में अध्यायों को रखा गया है; जो इसप्रकार है ह

आरंभ के चार अध्यायों में जीव तत्त्वार्थ का, पाँचवें अध्याय में पुद्गलादि अजीव तत्त्वार्थों का, छठवें-सातवें अध्याय में आस्रव का, आठवें अध्याय में बंध का, नौवें अध्याय में संवर-निर्जरा का और दशवें अध्याय में मोक्ष तत्त्वार्थ का वर्णन है।

प्रश्न ह प्रस्तुत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का जो क्रम प्रस्तुत किया गया है; ऐसा क्रम समयसार में क्यों नहीं ?

उत्तर हूँ समयसार के अधिकारों के क्रम के संदर्भ में समयसार अनुशीलन का निम्नांकित अंश दृष्टव्य है हूँ

“अतः यहाँ समयसार में समागत क्रम के औचित्य की समीक्षा भी आवश्यक है। उक्त संदर्भ में हमें आत्मख्याति से मार्गदर्शन प्राप्त होता है। आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। नाटक के मंच पर जोड़ों (युग्मों) की प्रधानता रहती है। इसके अधिकारों के चयन में भी जोड़ों को ध्यान में रखा गया है। जैसे हूँ जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बंध-मोक्ष। चूँकि तत्त्व नौ हैं; अतः एक को तो बिना जोड़े का रहना ही था। इसकारण निर्जरा तत्त्व बिना जोड़े के रह गया है और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार तो स्वतंत्र है ही।

यद्यपि कर्ता-कर्म और सर्वविशुद्धज्ञान हूँ ये दो नव तत्त्वों में नहीं आते हैं, तथापि इनके संदर्भ में जनसामान्य में बहुत अज्ञान रहता है। इस अज्ञान का निवारण किए बिना आत्मतत्त्व को सही रूप में समझ पाना संभव नहीं है। अतः इन्हें भी समयसार में स्थान प्राप्त हुआ है।

कर्ता-कर्म अधिकार को जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद क्यों रखा गया है ? यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है।

कर्ता-कर्म संबंधी भूल प्रकारान्तर से जीव-अजीव संबंधी भूल ही है; क्योंकि जीव को अजीव का और अजीव को जीव का कर्ता-भोक्ता मानना भी जीव-अजीव संबंधी भूल ही है। इसकारण इसे जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद रखा गया है।”

इनमें से जीव तत्त्वार्थ श्रद्धेय, ज्ञेय और ध्येय है। अजीव तत्त्वार्थ मात्र ज्ञेय है। आस्रव, बंध हेय हैं तथा पुण्य और पाप भी आस्रव-बंधरूप होने से हेय ही हैं। संवर और निर्जरा प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय हैं और मोक्ष सर्वदेश उपादेय है।

इसप्रकार यह सात या नौ तत्त्वार्थों का सामान्य स्वरूप है। विशेष स्वरूप विस्तार से यथास्थान आगे आनेवाला ही है। ●

चार निक्षेप

उक्त जीवादि सात तत्त्वार्थों और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को किसप्रकार से जानना चाहिए हूँ इस बात को स्पष्ट करते हुए आगामी सूत्र में चार निक्षेपों की चर्चा आरंभ करते हैं।

प्रमाण और नयों के अनुसार प्रचलित लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

निक्षेपों का प्रतिपादक सूत्र इसप्रकार है हूँ

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः ॥५॥

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव हूँ इन चार निक्षेपों से उक्त सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और सात या नौ तत्त्वार्थों का न्यास अर्थात् प्रतिपादन होता है, लोकव्यवहार संचालित होता है।

निक्षेपों का सामान्य स्वरूप इसप्रकार है हूँ

१. गुण-दोष आदि की अपेक्षा बिना किसी स्थान, व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना नामनिक्षेप है।

२. ‘यह वह है’ हूँ इसप्रकार अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना स्थापनानिक्षेप है।

३-४. अतीत और भावी पर्यायों का वर्तमान में आरोप करना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमान पर्यायरूप वस्तु को वर्तमान में कहना भावनिक्षेप है।

१. नाम निक्षेप को समझाने के लिए इसप्रकार के उदाहरण दिये जाते रहे हैं कि कुरूप व्यक्ति को सुन्दरलाल कहना, निर्धन व्यक्ति को धनपाल कहना, साधारण व्यक्ति को राजाराम कहना नामनिक्षेप के कथन हैं।

यद्यपि ये उदाहरण गलत नहीं हैं; तथापि इनसे ऐसा लगता है कि जान-बूझकर गलत बात कही जा रही है। नामनिक्षेप के कथन में सुन्दरलाल का कुरूप होना जरूरी नहीं है, वह सुन्दर भी हो सकता है।

वस्तुतः बात यह है कि नामनिक्षेप की दृष्टि से जो नामकरण किया

जाता है; उसमें किसी गुण-दोष आदि की अपेक्षा नहीं रखी जाती। अतः कुरूप या सुन्दर किसी भी व्यक्ति का नाम सुन्दरलाल रखा जा सकता है। बात मात्र इतनी ही है कि व्यवहार करने के लिए प्रत्येक स्थान, व्यक्ति या वस्तु का नाम होना आवश्यक है।

गुण-दोष आदि का विचार किये बिना उस स्थान, वस्तु या व्यक्ति को जिस नाम से कहने लगे, नामनिक्षेप से उसका वही नाम हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि नामनिक्षेप में 'यथा नाम तथा गुण' का सिद्धान्त लागू नहीं होता; क्योंकि राजा तो अपने बेटे का नाम राजकुमार रखता ही है; सेवक भी अपने बेटे का नाम राजकुमार ही रखता है, सेवककुमार नहीं।

२. स्थापनानिक्षेप में व्यवहार चलाने के लिए एक व्यक्ति की अन्य व्यक्ति या वस्तु में स्थापना कर ली जाती है। यह स्थापना दो प्रकार की होती है ह १. तदाकार स्थापना, २. अतदाकार स्थापना।

(क) भगवान महावीर के आकार की संगमरमर की मूर्ति में भगवान महावीर की स्थापना करना, प्रतिष्ठा करना तदाकार स्थापना है।

जैनसमाज में होनेवाले पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव तदाकार स्थापना के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(ख) शतरंज के खेल में बिना किसी आकार की सामान्य सी पत्थर की गोटियों में हाथी, ऊँट और घोड़े की कल्पना करना अतदाकार स्थापना है।

जब किसी व्यक्ति या वस्तु में किसी अन्य की स्थापना कर ली जाती है तो उसे उसकी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है।

नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप में मूलभूत यही अन्तर है कि नाम-निक्षेप में पूज्यापूज्यत्व का व्यवहार नहीं होता, जबकि स्थापनानिक्षेप में पूज्यापूज्यत्व का व्यवहार होता है।

किसी भी प्रतिष्ठित मूर्ति की पूजा उस मूर्तिमान व्यक्ति के समान ही की जाती है, जिसकी उसमें प्रतिष्ठा की गई है।

३. भूत और भावी पर्याय की मुख्यता से वर्तमान में कहना द्रव्यनिक्षेप है। भूतकाल में पूजा करनेवाले पुरुष को वर्तमान में पुजारी कहना और भविष्य में राजा बननेवाले राजपुत्र को वर्तमान में राजा कहना द्रव्यनिक्षेप के उदाहरण हैं।

४. मात्र वर्तमान पर्याय की मुख्यता से अर्थात् वर्तमान में जो जैसा है; उसको उसीरूप से कहना भावनिक्षेप है। जब कोई व्यक्ति पूजा कर रहा हो, तब उसे पुजारी कहना भावनिक्षेप का उदाहरण है।

इसप्रकार हम अपने जीवन में निरंतर इन निक्षेपों का प्रयोग करते रहते हैं।

एक जिन शब्द में चारों निक्षेपों का प्रयोग जिसमें है; ऐसी एक गाथा जिनागम में प्राप्त होती है; जो इसप्रकार है ह

गामजिणा जिणगामा, हवण जिणा पुण जिणंदपडियाओ।

दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था।।

जिनेन्द्रदेव के गुणों की अपेक्षा न करके किसी का जिन नाम रखना नामजिन है; जिनप्रतिमा स्थापनाजिन है; भव्यात्मा शक्ति अपेक्षा जिन होने से द्रव्यजिन है और समवसरण में स्थित जिनेन्द्रदेव भावजिन हैं।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि इन सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों-पदार्थों को उक्त निक्षेपों के आधार पर समझो-समझाओ, समझने-समझाने का व्यवहार करो; ऐसा करने से इन तत्त्वार्थों की सच्ची समझ बनती है।

नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं और भाव निक्षेप पर्यायार्थिकनय का विषय है।^१

उक्त निक्षेपों की सही जानकारी प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शनादि और जीवादि पदार्थों का उक्त निक्षेपों के अनुसार जो व्यवहार कथन होता है; उसका भाव ख्याल में आ जाता है। ●

प्रमाण-नय

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों को जानने का उपाय क्या है ? उक्त प्रश्न का समुचित उत्तर निम्नांकित सूत्र से प्राप्त होता है।

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाण और नयों के द्वारा उक्त सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों का ज्ञान होता है।

धर्मकीर्ति की न्यायदीपिका के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान हूँ ये पाँचों ही सम्यग्ज्ञान प्रमाणज्ञान हैं; पर श्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान होने के साथ-साथ नयज्ञानरूप भी होता है। श्रुतविकल्पानयाः हूँ ऐसा आगम का वचन है।

प्रश्न हूँ उक्त सूत्र में प्रमाण के पहले नय पद को रखना चाहिए; क्योंकि नय पद में कम मात्राएँ हैं। जिस पद में कम मात्राएँ होती हैं, उसे पहले रखा जाता है। ऐसा व्याकरणशास्त्र का नियम है।

उत्तर हूँ 'पूज्य को पहले रखा जाता है' हूँ इस नियम के अनुसार यहाँ प्रमाण पद को पहले रखा है। नय से प्रमाण अधिक पूज्य है; क्योंकि जो सम्यग्ज्ञान वस्तु के सर्वदेश को जानता है, उसे प्रमाणज्ञान कहते हैं और वस्तु के एकदेश को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान को नयज्ञान कहते हैं।

कहा भी है कि "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः" हूँ सकलादेश प्रमाणज्ञान का विषय है और विकलादेश नयज्ञान का विषय है।

प्रश्न हूँ आचार्य देवसेन तो अपने श्रुतभवनदीपक नयचक्र में व्यवहारनय को पूज्यतर और निश्चयनय को पूज्यतम सिद्ध करते हैं और आप यहाँ प्रमाण को पूज्य बता रहे हैं।

आचार्य देवसेन का उक्त कथन इसप्रकार है हूँ

“तर्होवं द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ । न ह्वावं, व्यवहारस्य पूज्य-तरत्वात्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात् ।

ननु प्रमाणलक्षणौ योऽसौ व्यवहारः स व्यवहारनिश्चयमनुभयं च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यतमो ?

नैवं नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात् । तद्यथा । निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहार-लक्षणभावक्रियां निरोद्धुमशक्तः अत एव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवासावात्मानमिति ।

तथा प्रोच्यते । निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानंदं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतमः ।^१

शंका हूँ यदि ऐसा है तो दोनों ही नय सामान्यरूप से ही पूज्यत्व को प्राप्त होंगे।

समाधान हूँ नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि व्यवहारनय तो पूज्यतर है और निश्चयनय पूज्यतम है।

शंका हूँ प्रमाणलक्षणवाला व्यवहारनय व्यवहार, निश्चय और अनुभय हूँ सभी को ग्रहण करनेवाला होने पर भी, अधिक विषयवाला होने पर भी पूज्यतम क्यों नहीं है?

समाधान हूँ नहीं है, वह पूज्यतम नहीं है; क्योंकि प्रमाणलक्षणवाला व्यवहारनय भी आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता।

वह इसप्रकार है हूँ निश्चय का अन्तर्भाव होने पर भी वह अन्ययोग का व्यवच्छेद नहीं करता तथा अन्ययोगव्यवच्छेद के अभाव में व्यवहारलक्षणवाली भाव क्रिया (विकल्पजाल) का निरोध अशक्य है। अतः वह आत्मा को ज्ञानचैतन्य में स्थापित करने में अशक्य ही है।

आगे और भी कहते हैं कि हूँ निश्चयनय एकत्व को प्राप्त कराके

ज्ञानरूपी चैतन्य में स्थापित करता है, परमानन्द को उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वतः निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार वह जीव को नयपक्ष से अतीत कर देता है। इस कारण वह पूज्यतम है।”

सबकुछ मिलाकर तथ्य यह है कि आचार्य अकलंकदेव राजवार्तिक में प्रमाणनयैरधिगमः सूत्र में प्रमाण पद को पहले रखने का कारण बताते हुए विषय की विशालता के आधार पर प्रमाण को पूज्य बता रहे हैं और श्रुतभवनदीपक नयचक्र में नयपक्षातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति में पहुँचानेवाले निश्चयनय को पूज्यतम बताया गया है।

नयचक्र में शंकाकार की ओर से व्यवहारनय के पूज्यतम होने के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यदि विषय की विशालता ही पूज्यतम होने का आधार है तो फिर व्यवहारनय, निश्चयनय और उभयनय अर्थात् व्यवहार-निश्चयनय सभी कुछ समाहित हैं जिसमें, ऐसा वह प्रमाण लक्षणवाला व्यवहारनय पूज्यतम क्यों नहीं है ?

इसके उत्तर में कहा गया है कि वह प्रमाणलक्षणवाला व्यवहारनय आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता; इसलिए वह पूज्यतम नहीं है।

नयचक्र में पूज्यतम होने का आधार विषय की विशालता नहीं है; अपितु नयपक्षातीत कराके आत्मानुभूति कराने में है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से प्रकरणानुसार उचित ही हैं।

प्रमाण-नय-निक्षेपों के संदर्भ में प्रत्येक के बारे में अनेक विशाल ग्रंथ लिखे गये हैं। मैंने स्वयं नयों के बारे में परमभावप्रकाशक नयचक्र नामक ग्रंथ लिखा है।

प्रमाण और नयों के प्रकारों की चर्चा आगे के सूत्रों में यथास्थान आवेगी; अतः प्रमाण और नयों के बारे में यहाँ अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

●

निर्देशादि का कथन

प्रमाण और नयों के द्वारा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि पदार्थों को जाना जाता है और नामादि निक्षेपों से उनका व्यवहार किया जाता है। सम्यग्दर्शनादि और जीवादि के बारे में क्या-क्या जाने हूँ यह बताने के लिए आगामी सूत्र की रचना हुई है; जो इसप्रकार है हूँ

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः॥७॥

सम्यग्दर्शनादि और जीवादि तत्त्वार्थों का निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से अधिगम/ज्ञान करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि पदार्थों को भलीभाँति जानने के लिए तत्संबंधी निर्देशादि को जानना चाहिए।

निर्देश हूँ वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश है।

स्वामित्व हूँ आधिपत्य को स्वामित्व कहते हैं।

साधन हूँ जिससे वस्तु की उत्पत्ति होती है, उस कारण को साधन कहते हैं।

अधिकरण हूँ वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

स्थिति हूँ जितने काल वस्तु रहे, वह उसकी स्थिति है।

विधान हूँ प्रकार, भेद और विस्तार को विधान कहते हैं।

यदि किसी वस्तु का ज्ञान करना हो या कहना हो तो यह जानना आवश्यक होता है कि उसका नाम क्या है, उसका स्वामी कौन है, वह किस साधन से बनी है, वह कहाँ रखी रहती है, उसकी काल मर्यादा कितनी और उसके भेद-प्रभेद कितने हैं हूँ यह सब कुछ जानना होता है।

यदि हमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हूँ इन तत्त्वार्थों को जानना है तो इनके बारे में इनके निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और प्रकारों को जानना चाहिए।

●

सत्संख्यादि का कथन

सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों के निर्देशादि के अतिरिक्त सत्, संख्यादि भी जानना चाहिए। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है—
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों के सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व को भी जानना चाहिए।

१. वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं।
२. वस्तु के भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं।
३. वस्तु के वर्तमान निवास-स्थान को क्षेत्र कहते हैं।
४. वस्तु के त्रिकाल संबंधी निवास-स्थान को स्पर्शन कहते हैं।
५. वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं।
६. वस्तु के विरहकाल को अन्तर कहते हैं।
७. औपशमिक, क्षायिकादि परिणामों को भाव कहते हैं।
८. अन्य वस्तु की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता के वर्णन को अल्पबहुत्व कहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि सातवें सूत्र में समागत निर्देशादि में ही सत् संख्यादि भी आ जाते हैं। निर्देश में सत् की, विधान में संख्या की, अधिकरण में क्षेत्र और स्पर्शन तथा स्थिति के प्रकरण में काल की चर्चा की जा सकती है। अतः दो पृथक् सूत्रों की आवश्यकता नहीं है।

उक्त प्रश्न का एकमात्र यही उत्तर है कि शिष्य तीन प्रकार के होते हैं—अतिसंक्षिप्तरुचिवाले, संक्षिप्तरुचिवाले और विस्ताररुचिवाले।

अतिसंक्षिप्तरुचिवालों के लिए तो प्रमाणनयैरधिगमः ही पर्याप्त है। संक्षिप्तरुचिवालों को प्रमाण और नयों के साथ-साथ निर्देशादि का कथन आवश्यक है; पर विस्ताररुचिवालों को सत्संख्यादि की भी आवश्यकता है।

इसलिए यहाँ तीनों प्रकार के शिष्यों का ध्यान रखकर तीन सूत्र लिखे गये हैं।

प्रमाण और नयों के माध्यम से तथा चार निक्षेपों के व्यवहार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप तत्त्वार्थों के निर्देश, स्वामित्व आदि तथा सत्, संख्या आदि को जानना चाहिए। इससे पाठकों का तत्त्वज्ञान निर्मल होगा; तथा तत्त्वार्थों के श्रद्धान, ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष का त्याग होकर रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग प्रशस्त होगा।

निर्देशादि और सत्संख्या आदि ऐसे विषय है कि इनको आधार बनाकर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं। सत्संख्या सूत्र के आधार पर षट्खण्डागम जैसे महान ग्रंथ लिखे गये हैं। उनके अधिकारों के नाम भी सत्प्ररूपणा, संख्याप्ररूपणा आदि हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में तो निर्देश, स्वामित्व आदि एवं सत्, संख्या आदि के जानने को उपायान्तर कहा है और आपके प्रतिपादन से ऐसा लगता है कि ये सब जानने के उपाय नहीं हैं, अपितु ज्ञेयों के वे बिन्दु हैं, जिन्हें जानना है।

उत्तर हूँ अरे, भाई ! दोनों में एक ही बात है। पहले तुम बात को गहराई से समझो।

जब हम किसी व्यक्ति का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, उसके बारे में गहराई से जानना चाहते हैं तो कुछ बिन्दु निश्चित कर लेते हैं। फिर उनके अनुसार पूछते हैं कि आपका नाम क्या है, आप कहाँ काम करते हैं, आपका अधिकारी कौन है, आपको क्या-क्या करना पड़ता है, आपकी शैक्षणिक योग्यता क्या है आदि।

इसीप्रकार यहाँ यह कहा जा रहा है कि जीवादि पदार्थों और सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों का परिचय प्राप्त करने के लिए उनका नाम (निर्देश), वे किसके हैं (स्वामी), उनकी प्राप्ति कैसे होती है (साधन), वे कहाँ-कहाँ रहते हैं (अधिकरण), वे कहाँ कबतक रहेंगे (स्थिति)

और उनके कितने प्रकार हैं (विधान) हूँ इतनी बातों को जानना चाहिए।

और भी अधिक परिचय प्राप्त करने के लिए उनके अस्तित्व (सत्), उनकी गिनती (संख्या) आदि भी जानना चाहिए। इससे रत्नत्रय और सप्त तत्त्वार्थों का गहरा परिचय हमें प्राप्त होगा।

इसीप्रकार उनका यह नाम सार्थक है या कहने मात्र का है (नाम निक्षेप), वे किसी के स्थापित प्रतिनिधि तो नहीं (स्थापनानिक्षेप), वे सदा ही ऐसे रहते हैं या बदलते रहते हैं (द्रव्य व भावनिक्षेप) आदि की जानकारी भी होना चाहिए।

यह सब जानकारी प्रमाण और नयों के माध्यम से ही होगी। अतः प्रमाण-नय ही जानने के असली उपाय हैं। शेष बातें सम्यग्ज्ञान क्या-क्या जानता है, कैसे जानता है, क्यों जानता है आदि ज्ञेयों के विशेषणों की बातें हैं।

इसी बात को समझाने के लिए वहाँ इन्हें उपायान्तर कहा है। अतः सर्वार्थसिद्धि आदि के कथन और हमारे कथन में कोई अन्तर नहीं है।

सब कुछ मिलाकर स्पष्ट स्थिति यह है कि आत्मकल्याण के इच्छुक आत्मार्थी भाई-बहिन जानेंगे; प्रमाण और नय से ही जानेंगे; नाम, स्थापना आदि निक्षेपों से प्रतिपादित जीवादि तत्त्वार्थों और सम्यग्दर्शनादिरूप मुक्तिमार्ग को जानेंगे; जीवादि व सम्यग्दर्शनादि के नाम, स्वामी, साधनादि एवं अस्तित्व, संख्यादि जानेंगे।

इसप्रकार जानने के साधन तो प्रमाण-नयरूप सम्यग्ज्ञान ही रहा, शेष सब तो जानने के प्रकार हैं, ज्ञेयों के विशेषण हैं। उपायान्तर कहने का यही आशय है; इसप्रकार कहने में हमें भी कोई ऐतराज नहीं है। हमने नया कुछ नहीं कहा है; अपितु उसी बात का स्पष्टीकरण किया है।

वह सम्यग्ज्ञान मतिज्ञानादि पाँच प्रकार का होता है, जिनकी चर्चा आगामी सूत्रों में क्रमशः आ रही है। यह चर्चा अधिकार के अन्त तक चलेगी। अध्याय के अन्तिम सूत्र में नयों की भी चर्चा होगी। उसके पूर्व लगभग सम्पूर्ण विवेचन प्रमाण के संदर्भ में ही होगा। •

प्रमाण के भेद-प्रभेद

छठवें सूत्र में प्रमाण और नयों की बात आई है। वहाँ यह भी स्पष्ट किया था कि सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। वह सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। उन प्रकारों की चर्चा आगामी सूत्रों में कर रहे हैं।

वे सूत्र इसप्रकार हैं हूँ

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥१॥

तत्प्रमाणे ॥१०॥ आद्ये परोक्षम् ॥११॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान हूँ ये पाँच भेद सम्यग्ज्ञान के हैं। उक्त पाँचों प्रकार का सम्यग्ज्ञान प्रमाण है।

सम्यग्ज्ञान के ये पाँच प्रकार परोक्ष और प्रत्यक्ष के रूप में विभाजित होते हैं। उनमें से आरंभ के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हूँ ये दो सम्यग्ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं और अन्त के तीन सम्यग्ज्ञान हूँ अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान हूँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

पराधीन ज्ञान को परोक्ष कहते हैं और स्वाधीन ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि के सहयोग से उत्पन्न होता है, वह पराधीन होने से परोक्ष प्रमाण कहा जाता है; परन्तु जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि के सहयोग की आवश्यकता नहीं है; वह ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है।

प्रत्यक्ष प्रमाण भी देशप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

सीमित विषयवाले होने से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं और सम्पूर्ण ज्ञेयों का ज्ञायक होने से केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

उक्त ज्ञान के पाँच प्रकारों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है हूँ

मतिज्ञान ह्य पराश्रय की बुद्धि छोड़कर दर्शनोपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रकट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। अथवा इन्द्रियाँ और मन हैं निमित्त जिसमें, उस ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान ह्य मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ के संबंध से अन्य पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान ह्य इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए सीधे आत्मा से रूपी पदार्थों को स्पष्टरूप से जानने को अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान ह्य ज्ञानी मुनिराज को इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए दूसरे के मन में स्थित विकल्परूप रूपी विषयों को सीधे आत्मा से स्पष्टरूप से जानने को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

आगे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के विषय के निरूपण के समय २६वें एवं २७वें सूत्र में अवधिज्ञान के विषय को रूपी बताया जायेगा और साथ में उसके अनन्तवें भाग सूक्ष्म रूपी विषय को मनःपर्ययज्ञान का ही विषय बताया जायेगा। वह अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म रूपी विषय दूसरे के मन में स्थित विकल्प ही हैं।

केवलज्ञान ह्य जो तीन लोक तथा तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों व उनके समस्त गुण व समस्त पर्यायों को तथा अपेक्षित धर्मों को प्रत्येक समय में स्पष्ट और एक साथ जानता है, ऐसे पूर्ण ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ह्य मतिज्ञान में भी इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं और मनःपर्यय ज्ञान में भी मन की बात आ रही है। दोनों में मूलभूत अन्तर क्या है ?

उत्तर ह्य मतिज्ञान परोक्ष प्रमाण है; क्योंकि उसमें अपनी इन्द्रियाँ और मन निमित्त के रूप में सहयोगी होते दिखाई देते हैं; पर मनःपर्ययज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसे जानने के कार्य में इन्द्रियादिरूप परपदार्थों के सहयोग की रंच भी आवश्यकता नहीं है। उसके संदर्भ में तो अपने

नहीं, अन्य जीव के मन में स्थित विकल्प, ज्ञान का ज्ञेय बनते हैं। मात्र बात इतनी ही है।

इसप्रकार उक्त चार सूत्रों में मात्र इतना ही कहा गया है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ह्य ये पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप हैं। ये पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप होने से प्रमाण हैं।

प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में दो प्रकार का होता है। आदि के दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं तथा अन्त के तीन ज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यद्यपि यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान को परोक्षप्रमाण ही कहा गया है; तथापि न्यायशास्त्र में एक सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष होता है, जिसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इसीप्रकार अध्यात्मशास्त्र के अनुसार एक स्वानुभूति प्रत्यक्ष भी होता है; जो मति-श्रुत ज्ञानवालों को ही होता है।

आत्मा को भी अक्ष कहते हैं और इन्द्रियों को भी अक्ष कहा जाता है। जो ज्ञान इन्द्रिय, आलोक आदि के सहयोग (निमित्त) के बिना सीधा अक्ष से, आत्मा से जानता है; उसे निश्चय से प्रत्यक्ष कहते हैं और जो ज्ञान इन्द्रियों (अक्ष) के सहयोग (निमित्त) से जानता है, उसे भी व्यवहार से प्रत्यक्ष कहते हैं, सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

इसीप्रकार जब मति-श्रुत परोक्ष ज्ञान इन्द्रिय और अलोकादि (निमित्त) के बिना निर्विकल्प होकर अपने आत्मा को जानते हैं, उसे निजरूप जानते-मानते हैं; तब उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष कहते हैं।

इसप्रकार प्रत्यक्षप्रमाण और परोक्षप्रमाण की सामान्य चर्चा हुई। आगे यथास्थान इन विषय पर विस्तार से बात करेंगे। ●

मतिज्ञान

नौवें सूत्र से बारहवें सूत्र तक पाँच प्रकार के ज्ञानों की सामान्य चर्चा करके, उनके परोक्ष-प्रत्यक्षादि भेद-प्रभेद गिनाये और अब आगामी १३ से १९वें सूत्र तक सात सूत्रों में मतिज्ञान के संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध कराते हैं।

उक्त सात सूत्रों में पहला अर्थात् १३वाँ सूत्र इसप्रकार है ह

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ह ये मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं, पर्यायवाची नाम हैं।

यद्यपि इनका स्वरूप अलग-अलग है; तथापि इन सभी में मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही अंतरंग निमित्त है। इसकारण इन्हें मतिज्ञान के नामान्तर कहा है।

मनन करना मति है, स्मरण करना स्मृति है, जोड़रूप ज्ञान संज्ञा है, व्याप्ति ज्ञान तर्क है और अनुमान ज्ञान अभिनिबोध है।

न्याय शास्त्र के सूत्र ग्रंथ परीक्षामुख के तीसरे अध्याय में उक्त मति, स्मृति आदि की चर्चा विस्तार से की गई है।

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ह इन चारों प्रकारों की चर्चा आगे १५वें सूत्र में आवेगी।

जब मतिज्ञान, इन्द्रिय प्रत्यक्ष से, मति नामक नामान्तर में; अवग्रह, ईहा और अवाय के रास्ते से धारणा तक पहुँचता है, तब कालान्तर में उसका याद आना स्मरण है, स्मृति है। इसप्रकार तत्त्व का निर्णय करने के लिए मनन करना मति है और धारणा ज्ञान में विद्यमान ज्ञेय का याद आना ह स्मरण करना स्मृति है।

जब वही मतिज्ञान पूर्वकाल के इन्द्रिय प्रत्यक्ष और वर्तमान इन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्मृति के माध्यम से जोड़ता है; तब उससे जो ज्ञान होता है; वह संकलनरूप ज्ञान संज्ञा है, प्रत्यभिज्ञान है।

यह वही है, जो मैंने पहले देखा था अथवा यह उस जैसा है अथवा उससे एकदम उल्टा है, विपरीत है ह इसप्रकार के जोड़रूप ज्ञान को संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

यह प्रत्यभिज्ञान पाँच प्रकार का होता है ह

१. 'यह ही वह है' ह यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है।

२. 'यह उसके समान है' ह यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है।

३. यह उससे विलक्षण है, विपरीत लक्षणवाला है ह यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है।

४. यह इससे दूर है ह यह प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान है और

५. यह वृक्ष है ह यह सामान्य प्रत्यभिज्ञान है।

जब प्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा के आधार पर हम इसप्रकार के नियम तैयार कर लेते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता ह इन नियमों को व्याप्तिज्ञान कहते हैं और व्याप्तिज्ञान ही तर्क है। इसे ही चिन्ता भी कहते हैं।

इन व्याप्तिज्ञानरूप तर्क से अनुमान की सिद्धि होती है। उक्त अनुमान को ही अभिनिबोध भी कहते हैं।

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।^१

इस पर्वत पर अग्नि विद्यमान है; क्योंकि उसके ऊपर धुंआ है। जहाँ-जहाँ धुंआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। जैसे रसोईघर। जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ-वहाँ धुंआ भी नहीं होता। जैसे तालाब।

चूँकि इस पर्वत पर धूम है; अतः यहाँ अग्नि अवश्य है। यह अनुमान का सर्वांग उदाहरण है।

अनुमान ज्ञान दो प्रकार का होता है ह १. स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

१. आचार्य माणिक्यनंदि परीक्षामुख : साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥१०॥

स्वयं ही जाने हुए साधन से साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं और दूसरे के उपदेश पूर्वक जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं।

ध्यान रहे स्वार्थानुमान मतिज्ञान में आता है और परार्थानुमान श्रुतज्ञान में।^१

इसप्रकार मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध हूँ ये सभी क्रमशः विकसित मतिज्ञान की ही अवस्थायें हैं। ●

१. श्री भास्करनंदि : तत्त्वार्थवृत्ति, सूत्र १३

इन्द्रिय और मन की निमित्तता

इसप्रकार इन मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधरूप मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं। इसकी चर्चा आगामी सूत्र में है, जो इसप्रकार है हूँ

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

उस मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं।

ध्यान रहे, मतिज्ञान के पाँच भेदों में जो पहला भेद मति है; उसमें ही इन्द्रियाँ और मन निमित्त होते हैं; स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध में मात्र मन ही निमित्त होता है, इन्द्रियाँ नहीं।^१

प्रश्न हूँ क्या मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन का निमित्त होना आवश्यक है ?

उत्तर हूँ आवश्यक तो नहीं, परन्तु जब मतिज्ञान के माध्यम से आत्मा, रूपी पुद्गल को जानता है, उनके जाननेरूप विकल्पों में परिणत होता है; तब उसमें इन्द्रियाँ और मन निमित्त अवश्य होते हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि इन्द्रियाँ मात्र स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दों की ही ग्राहक हैं और मन विकल्पों में निमित्त होता है।

अतः जब आत्मा अमूर्तिक पदार्थों को जानता है, विशेषकर आत्मसम्मुख होता है; तब उसमें इन्द्रियों और मन की निमित्तता की आवश्यकता नहीं होती।

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि इन्द्रियाँ और मन तो रूपी पुद्गल पदार्थों को ही जानने में निमित्त हो सकते हैं तथा मतिज्ञान का विषय छहों द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायें हैं।

अतः मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त के बिना भी संभव है; अन्यथा उससे इन्द्रियातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति कैसे होगी ? ●

१. श्री भास्करनंदि : तत्त्वार्थवृत्ति, सूत्र १४

अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा

अब यह स्पष्ट करते हैं कि मतिज्ञान का क्रमिक विकास किसप्रकार होता है, इस बात को स्पष्ट करनेवाला आगामी सूत्र इसप्रकार है ह

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

मतिज्ञान का विकास चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के रूप में होता है।

१. चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक होनेवाले सामान्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। 'यह मनुष्य है' ह इसप्रकार के ज्ञान को अवग्रह ज्ञान कहा जाता है।

२. चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक अवग्रह में जाने हुए पदार्थ के संबंध में विशेष जानने के प्रयास का नाम ईहा ज्ञान है।

३-४. ईहा में हुए प्रयास से किसी निश्चय पर पहुँच जाना अवाय ज्ञान है और फिर उसे कालान्तर में नहीं भूलना धारणा ज्ञान है।

इसप्रकार इन्द्रिय और अनीन्द्रिय अर्थात् मन के निमित्त से प्रगट रूपी पदार्थ के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ह ये सभी मतिज्ञान की क्रमशः विकसित होनेवाली पर्यायें हैं।

इस मतिज्ञान में उक्त मति के उपरान्त स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क-व्याप्तिज्ञान) और अभिनिबोध (अनुमान ज्ञान) होते हैं। ये सभी मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं।

ध्यान रखने की बात यह है कि मति-स्मृति आदि पाँचों के समुदाय का नाम भी मतिज्ञान ही है और मतिज्ञान के प्रथम नामान्तर का नाम भी मति या मतिज्ञान है।

अतः इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि मति या मतिज्ञान पद का प्रयोग कहाँ/किस अर्थ में हुआ है। •

अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ

मतिज्ञान, अवग्रहादि के द्वारा जिन्हें जानता है, वे पदार्थ बारह प्रकार के होते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव ह इन छह प्रकार के पदार्थों का और इनके उल्टे (प्रतिपक्षभूत) एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव ह इन छह को मिलाकर कुल बारह प्रकार के पदार्थ मतिज्ञान में अवग्रहादिरूप में जाने जाते हैं।

इन बारह भेदों का स्वरूप संक्षेप में इसप्रकार है ह

१. बहु ह बहुत। उसे संख्या और परिमाण की दृष्टि से देखा जा सकता है। बहुत मनुष्य ह यह संख्या की दृष्टि से और बहुत दाल ह यह परिमाण की दृष्टि से हुआ।

२. एक या अल्प ह थोड़ा। यह भी संख्या और परिमाण की दृष्टि से दो प्रकार का हो सकता है। संख्या की दृष्टि से थोड़े मनुष्य या एक मनुष्य और परिमाण की दृष्टि से थोड़ी दाल या एक पदार्थ।

३. बहुविध ह संख्या और परिमाण की दृष्टि से बहुत प्रकार के पदार्थ। जैसे गेहूँ, दाल, अनेकप्रकार के अनाज।

४. एकविध ह संख्या और परिमाण की दृष्टि से एक प्रकार के पदार्थ। जैसे एक ही प्रकार के चावल।

बहु और एक में जाति विवक्षित नहीं होती; जबकि बहुविध और एकविध में जाति विवक्षित रहती है। इन दो युग्मों में यही अन्तर है।

क्षिप्र ह पदार्थों का शीघ्रतापूर्वक ज्ञान या अतिवेग से गतिशील पदार्थ। तीव्र गति से गमन करनेवाले मनुष्य।

अक्षिप्र ह पदार्थों का ज्ञान धीरे-धीरे होना या धीमी गति से गमन करनेवाले पदार्थ।

अनिःसृत ह नहीं निकला हुआ। जो पदार्थ पूरा छिपा रहता है, वह

अनिःसृत कहलाता है और जिसका कुछ हिस्सा छिपा रहता है, उसे भी अनिःसृत ही कहते हैं।

नदी में हाथी पूरा डूबा हो; उसके माथे के ऊपर पानी की सतह पर भिनभिनाते मच्छरों को देखकर हाथी का ज्ञान अनिःसृत मतिज्ञान है तथा नदी में से हाथी की सूंड सामने आते ही केवल सूंड का ज्ञान न होकर सूंड सहित पूरे हाथी का ज्ञान होना भी अनिःसृत मतिज्ञान है।

निःसृत ह्व निकला हुआ। नदी में से पूर्णतः बाहर निकले हुए हाथी का ज्ञान होना निःसृत मतिज्ञान है।

अनुक्त ह्व अभिप्राय में रहनेवाला पदार्थ अथवा जिसके बारे में कुछ नहीं कहा गया हो; वह पदार्थ अनुक्त है। जिससमय चक्षु से नमक या चीनी का ज्ञान होता है, उसीसमय उसके रस का ज्ञान होना अनुक्त ज्ञान है।

उक्त ह्व कहा गया पदार्थ। कहे हुए पदार्थ का ज्ञान होना उक्त मतिज्ञान है। जैसे ह्व यह फल मीठा है।

ध्रुव ह्व चिरकाल तक अवस्थित रहनेवाले पदार्थ ध्रुव हैं अथवा कुछ काल किसी पदार्थ को एक रूप से ग्रहण करते रहना ध्रुव मतिज्ञान है।

अध्रुव ह्व ध्रुव का विपरीत अध्रुव है। ●

ये बहु आदि सभी भेद पदार्थ के हैं

अब आगामी सूत्र में कहते हैं कि उक्त सभी बहु आदि भेद-प्रभेद पदार्थ के ही हैं। सूत्र मूलतः इसप्रकार है ह्व

अर्थस्य ॥१७॥

ये बहु आदि भेद पदार्थ के हैं। इन्हें उक्त विधिपूर्वक जाननेवाला ज्ञान मतिज्ञान है। ●

व्यंजनावग्रह

व्यंजनावग्रह संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह्व

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

अप्रगट पदार्थ का मात्र अवग्रह होता है। इस अवग्रह को व्यंजनावग्रह कहते हैं।

चक्षु इन्द्रिय और मन के निमित्त से व्यंजनावग्रह नहीं होता।

अवग्रह दो प्रकार का होता है ह्व व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।

व्यंजन माने ढंका हुआ, अप्रगट, अव्यक्त। अप्रगट ह्व अव्यक्त पदार्थ के ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते हैं और व्यक्त प्रगट पदार्थों के ज्ञान को अर्थावग्रह ज्ञान कहते हैं।

अप्रगट पदार्थों का मात्र अवग्रह (व्यंजनावग्रह) ज्ञान होता है; ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान नहीं होता।

ध्यान रहे अप्रगट पदार्थों का अर्थावग्रह भी नहीं होता।

यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि व्यंजनावग्रह ज्ञान चक्षु और मन के निमित्त से नहीं होता; मात्र शेष चार इन्द्रियों के निमित्त से ही होता है।

इसप्रकार चार इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाला व्यंजनावग्रह बारह प्रकार के पदार्थों को जानने के कारण ४८ प्रकार का होता है और अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा नामक ज्ञान, पाँच इन्द्रियों और मन से, बारह प्रकार के पदार्थों को जानने के कारण बहत्तर-बहत्तर प्रकार के हो गये। इसप्रकार ४८+७२+७२+७२+७२+७२+७२=कुल मिलाकर मतिज्ञान ३३६ प्रकार का हो जाता है।

इसे निम्नांकित चार्ट से भलीभाँति समझा जा सकता है ह्व

गणधरों के सिवाय अन्य ज्ञानी धर्मात्मा शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा जो शास्त्र रचे जाते हैं, उनका समावेश अंगबाह्य श्रुत में ही होता है। इसप्रकार अंगबाह्य अनेक प्रकार का होता है।

आज बारह अंगों में से ग्यारह अंगों का ज्ञान तो लुप्त ही हो गया है। बारहवें दृष्टिवाद अंग के अग्रायणी पूर्व के पाँचवें वस्तु अधिकार के महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान आचार्य धरसेन को था, जिसे उन्होंने अपने शिष्य भूतबली और पुष्पदन्त नामक मुनिराजों को पढ़ाया। उक्त ज्ञान को भूतबली और पुष्पदन्त ने षट्खण्डागम में निबद्ध किया। उसकी टीका आचार्य वीरसेन ने धवला, महाधवला के रूप में लिखी। इनके आधार पर आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसारादि ग्रन्थों की रचना की। इसप्रकार प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई।

इसी समय दूसरे एक गुणधर नामक मुनिराज को ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में से तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उक्त प्राभृत को नागहस्ति नामक मुनिराज ने पढ़ा। उक्त दोनों मुनिराजों से यतिनायक नामक मुनिराज ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों की रचना की।

इसकी टीका समुद्धरण नामक मुनिराज ने बारह हजार श्लोक प्रमाण लिखी। इन आचार्यों की परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द इन शास्त्रों के ज्ञाता हुए। उन्होंने समयसारादि ग्रन्थ बनाये। इसप्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई।

इसप्रकार बारहवें अंग का कुछ ज्ञान ही आज हमें उपलब्ध है। शेष ज्ञान विलुप्त ही है।

अवधिज्ञान

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है ह १. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय।

आयुर्कर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाली जीव की पर्याय को भव कहते हैं।

जिसमें मुख्यरूप से भव ही कारण (निमित्त) हो, उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं और जिसमें मुख्यरूप से क्षयोपशम ही कारण (निमित्त) हो, उसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

यद्यपि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है; क्योंकि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम बिना तो अवधिज्ञान संभव ही नहीं है; तथापि देवायु और नरकायु के बंध के साथ अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नियम से होता है; इसकारण भव को मुख्य करके इसका नाम भवप्रत्यय रखा गया है।

जिसप्रकार पक्षियों के जन्म से ही आकाश गमन देखा जाता है; उसीप्रकार देव और नारकियों के जन्म से ही अवधिज्ञान पाया जाता है। यही कारण है कि उनके अवधिज्ञान को भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है।

मनुष्य और तिर्यचों में बहुत कम जीवों को अवधिज्ञान होता है। यही कारण है कि मनुष्य और तिर्यचों को होनेवाले अवधिज्ञान को क्षयोपशमनिमित्तक कहा गया है।

अवधिज्ञान के संबंध में तत्त्वार्थसूत्र में दो सूत्र प्राप्त होते हैं, जो इसप्रकार हैं ह

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

भवप्रत्यय नामक अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है और शेष जीवों अर्थात् मनुष्य और सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यचों को होनेवाला

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का है ह्य अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ।

इनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है ह्य

१. अनुगामी ह्य जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह दूसरे भव या क्षेत्र में भी जीव के साथ बना रहे, उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं ।

२. अननुगामी ह्य जो अवधिज्ञान दूसरे भव या क्षेत्र में जीव के साथ नहीं जाता, उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं ।

३. वर्द्धमान ह्य जो अवधिज्ञान शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की भाँति बढ़ता रहता है, वह वर्द्धमान अवधिज्ञान है ।

४. हीयमान ह्य जो अवधिज्ञान कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की भाँति घटता रहता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है ।

५. अवस्थित ह्य जो अवधिज्ञान सूर्य या मनुष्य के शरीर पर स्थित तिल के समान एकसा रहता है, न घटता है, न बढ़ता है; वह अवस्थित अवधिज्ञान है ।

६. अनवस्थित ह्य जो अवधिज्ञान हवा से जल की तरंगों की भाँति घटता-बढ़ता रहता है, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है ।

उक्त संदर्भ में जानने योग्य विशेष बात यह है कि मनुष्यों में तीर्थकरों को भी जन्म से ही अवधिज्ञान होता है; अतः एक अपेक्षा से उसे भी भवप्रत्यय कह सकते हैं ।

तीर्थकरों के अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कहने पर; गुणप्रत्यय अवधिज्ञान को तीर्थकरों को छोड़कर मनुष्यों और तिर्यचों के ही मानना होगा । तिर्यचों में यह अवधिज्ञान मात्र सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यचों के ही होता है और मनुष्य तो सभी सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं । ●

मनःपर्ययज्ञान

मति, श्रुत और अवधिज्ञान की चर्चा के उपरान्त अब तीन सूत्रों में मनःपर्ययज्ञान की चर्चा करते हैं ।

मनःपर्ययज्ञानसंबंधी प्रथम सूत्र इसप्रकार है ह्य

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार है ।

ऋजुमति ह्य जो ज्ञान मन, वचन, काय की सरलता से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है; उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं ।

विपुलमति ह्य जो सरल तथा कुटिलरूप से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है; वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है ।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि मन में स्थित रूपी पदार्थ से क्या आशय है; क्योंकि मन में तो विचार आते हैं, विकल्प उठते हैं । क्या वे विचार या विकल्प रूपी हैं ?

हाँ, वे विचार और विकल्प रूपी हैं । यह बात तो इसी से सहजसिद्ध हो रही है कि मनःपर्ययज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है और वह मात्र दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानता है ।

यह तो जगप्रसिद्ध बात है कि मन में तो विकल्प ही उठते हैं, विचार ही आते हैं । अतः यह सिद्ध ही है कि वे विचार और विकल्प रूपी पदार्थ ही हैं । ●

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब उनमें परस्पर क्या अन्तर है ? ह यह स्पष्ट करते हैं ।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह

विशुद्धिप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

परिणामों की विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा दोनों में अन्तर है ।

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मपरिणामों में होने वाली निर्मलता को विशुद्धि कहते हैं । गिरने (छूटने) का नाम प्रतिपात है और नहीं गिरने (नहीं छूटने) का नाम अप्रतिपात है ।

ऋजुमति से विपुलमतिज्ञानवाले के परिणामों में अधिक विशुद्धि होती है और ऋजुमति होकर छूट जाता है या छूट सकता है; पर विपुलमतिवाला कभी भी नीचे की ओर नहीं जाता । वह जबतक केवलज्ञान न हो जाय, तबतक नहीं छूटता । केवलज्ञान होने पर तो चारों ही क्षयोपशमज्ञान छूट जाते हैं ।

इसतरह यह सुनिश्चित हुआ कि केवलज्ञान होने के पहले नहीं छूटना ही अप्रतिपात है और केवलज्ञान नहीं होने पर भी छूट जाना प्रतिपात है । इसप्रकार विपुलमति अप्रतिपाती है और ऋजुमति प्रतिपाती ज्ञान है ।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान तद्भव मोक्षगामियों के ही होता है; पर ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तद्भव मोक्षगामी के भी हो सकता है और उन्हें भी हो सकता है, जो तद्भव मोक्षगामी नहीं हैं ।

इसीप्रकार विपुलमति ज्ञानवाला क्षपकश्रेणी का आरोहण करता है; पर ऋजुमतिवाला क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी दोनों पर चढ़ सकता है । यह भी हो सकता है कि वह श्रेणी चढ़े ही नहीं । ●

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर स्पष्ट करने के बाद अब अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में क्या अन्तर है ? ह यह स्पष्ट करते हैं ।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ह दोनों में परस्पर अन्तर है ।

१. अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान अधिक विशुद्धिवाला है ।

२. मनःपर्ययज्ञान मात्र मानुषोत्तर पर्वत के भीतर अर्थात् ढाई द्वीप के भीतर की ही बात जानता है; जबकि अवधिज्ञान का क्षेत्र सर्व लोक है ।

३. मनःपर्ययज्ञान छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक प्रवर्द्धमान उत्कृष्ट चारित्रवाले जीवों के पाया जाता है; जबकि अवधिज्ञान चारों गतियों के सभी सैनी पंचेन्द्रिय सम्यग्दृष्टि जीवों के हो सकता है ।

विभंगावधि या कु-अवधिज्ञान चारों गतिवाले सैनी पंचेन्द्रियों को हो सकता है ।

४. अवधिज्ञान का विषय; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा में सभी रूपी (पुद्गल) पदार्थ उनकी कुछ पर्यायों के साथ हैं ।

मनःपर्ययज्ञान का विषय भी रूपी पदार्थ ही हैं; परन्तु वह मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म मात्र दूसरे के मन में स्थित विकल्प हैं, विचार हैं ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा बहुत अन्तर है । ●

पाँचों ज्ञानों के विषय

यद्यपि अब यहाँ केवलज्ञान की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; तथापि दशवें अध्याय में मोक्ष तत्त्वार्थ की चर्चा में केवलज्ञान का स्वरूप विस्तार से स्पष्ट होगा ही; इसलिए यहाँ उसे छोड़कर पाँचों ज्ञानों के विषय के संबंध में विचार करते हैं।

पाँचों ज्ञानों के विषय बतानेवाले चार सूत्र इसप्रकार हैं ह

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

रूपिष्ववधेः ॥२७॥ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

मति और श्रुतज्ञान यद्यपि सभी द्रव्यों को जानते हैं, जान सकते हैं; परन्तु उनकी सभी सहवर्ती पर्यायों (गुणों) और क्रमवर्ती पर्यायों को नहीं जानते, मात्र कुछ ही पर्यायों को जानते हैं। इसप्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सभी द्रव्यों की असर्व (कुछ) पर्यायें हैं।

अवधिज्ञान मात्र रूपी (पुद्गल) पदार्थों को ही जानता है; अतः अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ पुद्गल और उसकी कुछ पर्यायें हैं।

मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान से अनन्तवें भाग सूक्ष्म रूपी पदार्थ को ही जानता है और वह सूक्ष्म रूपी पदार्थ दूसरे के मन में स्थित विकल्प हैं, विचार हैं।

इससे यह बात भी सहज सिद्ध है कि मन में उठनेवाले विकल्प व विचार भी रूपी हैं, पौद्गलिक हैं।

केवलज्ञान सभी द्रव्यों और उनकी त्रिकालसंबंधी सभी सहभावी पर्यायों (गुणों) और क्रमभावी पर्यायों को एक समय में एक साथ अत्यन्त स्पष्टरूप से इन्द्रियादिक के सहयोग के बिना सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानता है।

यही कारण है कि उसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। ध्यान रहे कि

इन्द्रिय प्रत्यक्ष सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान अर्थात् अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, निश्चय प्रत्यक्ष है।

उक्त पाँच सूत्रों में पाँचों ज्ञान क्या जानते हैं, किस-किस को जानते हैं, कैसे जानते हैं ? ह यह समझाया गया है।

उक्त पाँचों ज्ञानों का विषय क्या है, ज्ञेय क्या है ह यह जानने का मूल प्रयोजन यह है कि यदि हमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करना है, मुक्तिमार्ग पर चलना है, मुक्ति प्राप्त करना है तो सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि अभी हमारे पास मति-श्रुतज्ञान है और हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति करनी है; क्योंकि उसके साथ ही अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति भी हो जाती है।

अब बचे वे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान; जो अभी हमें उपलब्ध नहीं हैं। जिस आत्मा को जानने से, उसे निजरूप मानने से, उसमें ही अपनापन स्थापित करने से, उसमें ही समा जाने से; हमें अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, अनन्त दुःखरूप इस भव का अभाव होता है।

उस आत्मा को जानने के काम में तो ये ज्ञान आते नहीं, मात्र इस पौद्गलिक देहरूपी कारागार को जानने, पंचेन्द्रिय विषयों को जानने और दूसरे के मन में स्थित गंदे विचारों, राग-द्वेषरूप सभी विकारी भावों को जानने के काम में ही आते हैं; हमें उन्हें प्राप्त करने से क्या मिलनेवाला है।

क्या करेंगे उस अवधिज्ञान का; जो मिथ्यादृष्टि पापी नारकियों तक को हो जाता है, हो क्या जाता है, नियम से होता ही है। क्या करेंगे उस मनःपर्ययज्ञान का; जिन मुनिराजों को वह होता है, वे वीतरागी मुनिराज लगभग जिन्दगी भर उसका उपयोग तक नहीं करते, क्या रस है उन्हें दूसरे के गंदे विचारों को जानने का।

जो गंदगी जगत के जीवन में दिखाई देती है, उससे असंख्यगुणी गंदगी लोगों की वाणी में है और उससे भी असंख्यगुणी गंदगी लोगों के मनो में है; जो भय आदि अनेक कारणों से बाहर नहीं आ पाती।

विकल्पों के रूप में मन में रहनेवाली वह गंदगी यदि वाणी में आ जाय तो जगत में कोलाहल मच जाय और यदि क्रिया में आ जाय, जीवन में आ जाय तो प्रलय आ जाये।

यदि ऐसा हो जाये तो बताइये कौन जिन्दा रहेगा और किस माँ-बहिन की इज्जत सुरक्षित रहेगी।

ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसको मारने का भाव किसी न किसी को आज तक न आया हो, और कौनसी माँ-बहिन हैं, जिसे देखकर किसी न किसी के मन में भोग का भाव न आया हो। यदि यह सबकुछ क्रिया में आ जाता तो क्या होता हूँ इसकी कल्पना आप कर सकते हैं।

इतने गंदे मन के भावों को, विचारों को, विकल्पों को ऋद्धिधारी भावलिंगी मुनिराज क्यों देखना चाहेंगे ?

अच्छा ही है कि वे ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हैं; अन्यथा वे हमें पौद्गलिक पदार्थों को जानने में ही उलझाये रखते।

आत्मा के कल्याण करने के लिए, आत्मस्वरूप जानने के लिए जिनकी आवश्यकता है; वे मति-श्रुतज्ञान हमारे पास हैं ही। भली होनहार से मति-श्रुतज्ञानावरण का इतना क्षयोपशम भी है कि जिससे आत्मा-परमात्मा को जाना जा सकता है। हम सब सैनी पंचेन्द्रिय हैं। अतः उसका भरपूर उपयोग स्वाध्याय में करना चाहिए।

इसप्रकार विचार करके, उन अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के प्रति लालसा से मुक्त होकर, एकमात्र अनंत सुख के साथी उस उत्कृष्ट केवलज्ञान को ही प्राप्त करने की भावनावाले आत्मार्थी जीवों को सबसे पहले उस केवलज्ञान की विषयवस्तु को, उसके स्वरूप को जानने का प्रयास करना चाहिए।

वह केवलज्ञान; इन्द्रिय-मन, प्रकाश आदि के सहयोग के बिना, पूर्णतः स्वतंत्र रहकर, सीधे आत्मा से अलोकाकाश सहित इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं; उन सभी को, उनके गुणों को और उनकी द्रव्यपर्याय सहित गुणपर्यायों को, उनमें होनेवाले प्रतिसमय के सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तनों को पूरी तरह स्पष्टरूप से जानता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि इस लोक में अनंतानंत जीवद्रव्य और उनसे भी अनंतगुणे अनंतानंत पुद्गलद्रव्य हैं; एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात लोकप्रमाण कालद्रव्य हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अनंतानंत गुण, प्रत्येक गुण में उससे भी अनंतगुणी पर्यायें होती हैं। इन सबको केवलज्ञान जानता है और एकदम सत्य; जैसी वे हैं या होंगी; ठीक वैसी ही एवं अत्यन्त स्पष्ट जानता है।

केवलज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं।

असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञान प्रत्यक्ष है।।

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो।

फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो।।^१

जो पर्यायें उत्पन्न नहीं हुई हैं या उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं; वे सभी अविद्यमान पर्यायें केवलज्ञान में तो प्रत्यक्ष ही हैं।

यदि अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायें केवलज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

उक्त गाथाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि सभी द्रव्यों की जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई, वे भविष्य की पर्यायें और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे भूतकाल की पर्यायें; केवलज्ञान में अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतिसमय ज्ञात होती रहती हैं।

इसी सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं ह

“सभी द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं; इन सबमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है; जो केवलज्ञान के विषय से परे हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है। इसी बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में “सर्वद्रव्यपर्यायेषु” कहा है।^२

१. प्रवचनसार, गाथा ३८ व ३९ का हिन्दी पद्यानुवाद

२. सर्वार्थसिद्धि, सूत्र २९ की टीका के अंश का हिन्दी अनुवाद।

केवलज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैंह
 “एक ज्ञायक स्वभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से; क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूह वाले, अगाधस्वभाव और गंभीर समस्त द्रव्य मात्र को ह्व मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों; भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों; इसप्रकार एक क्षण में ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है।”

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि केवलज्ञान में भविष्य की सभी पर्यायें जान ली जाती हैं तो फिर वे यह भी जान लेते होंगे कि हम सबका कब, क्या, कैसे होनेवाला है ? यदि हाँ तो फिर हम तो किसी का कुछ कर ही नहीं सकते ।

अरे, भाई ! अभी तुम इसी में उलझ रहे हो कि तुम किसी का कुछ नहीं कर सकते; बात तो यहाँ तक बढ़ गई है कि हम अपना भी कुछ नहीं कर सकते; सबके साथ अपनी पर्यायें भी तो भगवान के केवलज्ञान में ज्ञात हो गई हैं ।

हम नहीं मानते ऐसी बातें; जिनमें हम कुछ कर ही न सके ।

तुम्हारे मानने, नहीं मानने से कुछ नहीं होता, वस्तु तो जैसी है, वैसी ही रहेगी ।

हमें ऐसा केवलज्ञान, ऐसी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं है ।

अरे, भाई ! हमारे भगवान की, आप की, सच्चे देव की परिभाषा यही है कि जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो; वही भगवान है, वही आप है, वही सच्चा देव है, वही तीर्थंकर अरहंतदेव हैं ।

यदि हमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के उपासक बनना है तो उनके सर्वज्ञ स्वभाव को गहराई से समझना होगा, सर्वज्ञता को स्वीकार करना होगा; अन्यथा सबकुछ गड़बड़ा जावेगा ।

हमारे देव सर्वज्ञ हैं, हमारे शास्त्र सर्वज्ञकथित हैं और हमारे गुरु भी सर्वज्ञ भगवान के बताये मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

सर्वज्ञता को नहीं मानने से हम सब कुछ गंवा देंगे; क्या आप नहीं जानते कि समस्त जिनागम का आधार एकमात्र सर्वज्ञता ही है ।

झूठे कर्तृत्व के अभिमान में सर्वज्ञ और सर्वज्ञता से विमुख होना समझदारी का काम नहीं है ।

हमारे आचार्य समन्तभद्र ने, अकलंकदेव ने, आचार्यश्री विद्यानंद ने सर्वज्ञता की सिद्धि में जीवन लगा दिया है और आज हम कह रहे हैं कि यदि सर्वज्ञता के स्वीकार करने में हमारे हाथ कुछ नहीं रहेगा तो हम उसे भी तिलांजलि दे देंगे ।

अरे, भाई ! ऐसा दुस्साहस कभी नहीं करना । ऐसा आत्मघाती कदम कभी नहीं उठाना, उठाने की सोचना भी नहीं ।

हे भगवान ! हमारे शत्रु को भी कभी ऐसी दुर्बुद्धि न आये । हम तो यही कामना करते हैं ।

हे आत्मन् ! यदि समझपूर्वक सच्चे दिल से सर्वज्ञता की स्वीकृति हो जावे तो हमारे इस कर्तृत्व के अभिमान को चूर-चूर होते देर न लगेगी, सहज अकर्ताभाव जागृत हुए बिना नहीं रहेगा ।

अरे, भाई ! जबतक हमें सर्वज्ञता स्वीकृत न होगी; तबतक वह हमें प्राप्त भी कैसे होगी ? यदि हमें सर्वज्ञता प्राप्त करना है तो हमें सहज भाव से सर्वज्ञता को स्वीकार करना ही चाहिए ।

यदि सर्वज्ञता के स्वरूप को गहराई से जानना है तो लेखक की अन्य कृति क्रमबद्धपर्याय एवं आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए । ●

एक आत्मा में एक साथ चार ज्ञान

पाँचों ज्ञानों के विषय स्पष्ट हो जाने के बाद अब यह बताते हैं कि एक आत्मा में एक साथ कम से कम एक और अधिक से अधिक चार ज्ञान हो सकते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक जीव के एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं।

यदि एक ज्ञान होगा तो अकेला केवलज्ञान होगा।

यदि दो ज्ञान हुए तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होंगे।

यदि तीन ज्ञान हुए तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होंगे अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होंगे।

यदि चार ज्ञान हुए तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान हूँ ये चार ज्ञान होंगे।

पाँच ज्ञान एक साथ किसी जीव के कभी नहीं होते; क्योंकि केवलज्ञान होने के साथ अन्य ज्ञानों की न कोई उपयोगिता ही रहती और ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से क्षायोपशमिक ज्ञान रह भी नहीं सकते।

ध्यान रहे इस संसारी जीव को आत्मकल्याण के कार्य में मात्र मति-श्रुतज्ञान ही काम आते हैं; क्योंकि अवधिज्ञान तो मात्र पुद्गल को ही जानता है और मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मन की बातों को।

ये दोनों ज्ञान आत्मा को नहीं जानते और आत्मा का हित तो आत्मा को जानने में है, पर को जानने में नहीं।

संसारी जीवों के मन में कोई अच्छी बातें तो रहती नहीं, उनका मन तो सदा गंदे विचारों से ही भरा रहता है, उन गंदे विचारों को जानने से आत्मा को क्या लाभ है ?

उक्त संदर्भ में विगत सूत्रों की व्याख्या में चर्चा विस्तार से हो ही गई है।

प्रमाणाभास : मिथ्याज्ञान

सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का प्रकरण समाप्त हुआ, अब प्रमाणाभासरूप मिथ्याज्ञानों की चर्चा करते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह

मतिश्रुतावधयोर्विपर्ययश्च ॥३१॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विपरीत (मिथ्या) भी होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों में आरंभ के तीन हूँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

जब ये तीनों ज्ञान सम्यग्दर्शन सहित होते हैं तो सम्यग्ज्ञानरूप या प्रमाण रूप होते हैं और जब मिथ्यादर्शन सहित होते हैं; तब मिथ्याज्ञानरूप या प्रमाणाभासरूप होते हैं।

मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान मात्र सम्यग्दृष्टियों को ही होते हैं; अतः वे कभी मिथ्याज्ञानरूप नहीं हो सकते। वे सदा सम्यग्ज्ञानरूप या प्रमाणरूप ही होते हैं।

ध्यान रहे ज्ञान में सम्यक् और मिथ्या का निर्देश अथवा प्रमाण और प्रमाणाभास का निर्देश सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के कारण ही होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सम्यक् ही होते हैं, प्रमाणरूप ही होते हैं और मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान मिथ्या ही होते हैं, प्रमाणाभासरूप ही होते हैं।

मिथ्यादृष्टियों के वे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान लौकिक दृष्टि से कितने उपयोगी क्यों न हों हूँ आखिर हैं तो वे सब मिथ्याज्ञान ही, प्रमाणाभास ही।

जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, तबतक उनके ज्ञान की आध्यात्मिक जगत में कोई कीमत नहीं। अतः हमें पूरी शक्ति से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

ज्ञान में मिथ्यापन होने का कारण

विगत सूत्र में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्या भी होते हैं ह्व ऐसा कहा गया था। अतः अब आगामी सूत्र में उक्त ज्ञानों के मिथ्या होने के कारण पर विचार करते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्व

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

जिसप्रकार पागल पुरुष; सत्-असत् का ज्ञान न होने से अथवा सत्-असत् को एक सा समझने से अपनी इच्छानुसार चाहे जैसा कहने लगता है; उसीप्रकार सत्-असत् का विशेष ज्ञान न होने से अथवा दोनों में एक सी बुद्धि होने से अपनी इच्छानुसार जैसा-तैसा जानने के कारण मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्या ही होता है।

जिसप्रकार पागल व्यक्ति माता और पत्नी में क्या अन्तर है ? यह नहीं जानने के कारण कभी माता को पत्नी कह देता है और पत्नी को माता। ऐसा व्यक्ति यदि कभी माता को माता और पत्नी को पत्नी भी कहे तो उसका वह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि उसे माता और पत्नी का विवेक नहीं है।

माँ की पवित्रता उसके ध्यान में नहीं है। माँ पूज्य है और पत्नी भोग्य। इस अंतर को जाने बिना उसके माँ कहने का क्या अर्थ है ? वह तो कभी पत्नी को भी माँ कह सकता है और माँ को पत्नी।

उसीप्रकार जिसे सत् और असत् का विवेक नहीं है, स्व-पर का विवेक नहीं है; अपने और पराये की पहिचान नहीं है; ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् सही भी कहे तो भी वह मिथ्यादृष्टि ही है; क्योंकि उसकी श्रद्धा सम्यक् नहीं है; उसे स्व-पर का विवेक नहीं है, अपने-पराये की पहिचान नहीं है।

सम्यग्ज्ञान होने के लिए श्रद्धा का सम्यक् होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि ज्ञान का सम्यक्पना श्रद्धा के सम्यक् होने पर आधारित है। ●

नैगमादि सप्त नय

छठवें सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा सात तत्त्वार्थों के जानने के उपाय के रूप में प्रमाण और नयों की बात आई थी। उनमें सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का निरूपण नौवें सूत्र से तीसवें सूत्र तक २२ सूत्रों में विस्तार से हुआ। उसके बाद ३१ व ३२वें सूत्रों में प्रमाणाभासरूप कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि मिथ्याज्ञानों की चर्चा हुई। अब इस प्रथम अध्याय के अन्तिम ३३वें सूत्र में श्रुतज्ञान के अंशरूप नयों का निरूपण करते हैं।

जिसप्रकार सम्यग्ज्ञान प्रमाणरूप और मिथ्याज्ञान प्रमाणाभासरूप होते हैं; उसीप्रकार सम्यक् नय नयरूप और मिथ्यानय नयाभासरूप होते हैं। सापेक्षनय सम्यक् नय और निरपेक्षनय मिथ्या होते हैं।

कहा भी है ह्व निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।

निरपेक्षनय मिथ्या हैं, नयाभास हैं और सापेक्षनय सम्यक् हैं, नयरूप हैं। सापेक्ष नयों से वस्तु की सिद्धि होती है।

जिनागम में मूल नयों की चर्चा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार नयों के रूप में प्राप्त होती है; पर यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में उनकी चर्चा भी नहीं है; यहाँ तो नयों की चर्चा नैगमादि सात नयों के रूप में ही प्राप्त होती है।

नयों के संदर्भ में परमभावप्रकाशक नयचक्र नाम से लगभग ४४० पृष्ठों की एक पुस्तक मैंने भी लिखी है; जिसमें द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, निश्चय-व्यवहार, नैगमादि सप्त नय और प्रवचनसार के परिशिष्ट में समागत ४७ नयों की चर्चा विस्तार से की गई है।

उक्त पुस्तक में नैगमादि सप्त नयों की चर्चा भी ४५ पृष्ठों में की गई है। जो लोग नयों के सदर्थ में विस्तार से जानना चाहते हैं; वे उक्त पुस्तक को अवश्य पढ़ें। जो लोग अकेले नैगमादि नयों को ही विस्तार से जानना चाहते हैं; वे लोग उक्त पुस्तक में समागत नैगमादि सप्त नयों

संबंधी प्रकरण को गहराई से पढ़ें।

इस तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में समागत नैगमादि सात नयों संबंधी सूत्र मूलतः इसप्रकार है ह

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत ह ये सात नय हैं।

उक्त सात नयों का स्वरूप संक्षेप में इसप्रकार है ह

१. नैगमनय ह अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करनेवाला नय नैगमनय है। जैसे ह हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पूछता है ह 'आप किस काम से जा रहे हैं?'

वह कहता है ह 'प्रस्थ लेने जा रहा हूँ।'

यद्यपि उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि प्रस्थ बनाने का संकल्प होने से प्रस्थ शब्द का व्यवहार किया गया है।

इसीप्रकार ईंधन एवं जलादि के संग्रह में संलग्न पुरुष से यदि कोई पूछता है ह 'आप क्या कर रहे हैं?'

वह उत्तर देता है ह 'भात पका रहा हूँ।'

यद्यपि उस समय भात (पके हुए चावल) पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि भात के लिए किये जा रहे व्यापार में भात का प्रयोग किया गया है।

इसप्रकार का जितना भी लोकव्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के अवलम्बन से संकल्पमात्र को विषय करता है, वह नैगमनय का विषय है।^१

पुराने समय में अनाज नापने के लिए लकड़ी का एक बर्तन हुआ करता था, जिसे प्रस्थ कहते थे। एक व्यक्ति प्रस्थ बनाने के लिए लकड़ी लेने के लिए वन जा रहा था। जब उससे पूछा गया कि कहाँ जा रहे हो, तब वह कहता है कि प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। वह वन से प्रस्थ

१. सर्वार्थसिद्धि, अ. १, सूत्र ३३ की टीका

नहीं, लकड़ी लायेगा; पर उसका विचार उस लकड़ी से प्रस्थ बनाने का है; अतः वह ऐसा न कहकर कि मैं लकड़ी लेने जा रहा हूँ, अपने संकल्पानुसार ऐसा कहता है कि मैं प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। उसका यह कथन भावीनैगमनय से सत्य है; क्योंकि नैगमनय संकल्पग्राहीनय है।

इसीप्रकार जो कार्य भूतकाल में सम्पन्न हो चुका है, उसे वर्तमान के समान व्यवहार करना भूतनैगमनय है। यद्यपि भगवान महावीर के निर्वाण को पच्चीस सौ से भी अधिक वर्ष हो गये हैं; तथापि लोक में कहा जाता है कि आज दीपावली के दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। भूतनैगमनय से यह कथन सत्य है; क्योंकि भूतनैगमनय भूतकालीन कार्यों में वर्तमानवत् ही व्यवहार करता है।

जो आरम्भ किये गये कार्य में सम्पन्न कार्य के समान व्यवहार करता है, वह वर्तमाननैगमनय है। इसे भात पकाने की क्रिया का उदाहरण देकर समझाया जाता रहा है। पके हुए चावल को भात कहते हैं। कोई व्यक्ति चावल पकाने के संकल्पपूर्वक चावल धोने आदि के कार्य में लगा है; यद्यपि उसने अभी चूल्हा भी नहीं जलाया है, पर पूछे जाने पर वह यही कहता है कि मैं भात पका रहा हूँ। उसका यह कहना वर्तमाननैगमनय से सत्य है।

इसप्रकार यह नैगमनय; भूतनैगमनय, वर्तमाननैगमनय और भावीनैगमनय के भेद से तीन प्रकार का होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि भावीनैगमनय एवं वर्तमाननैगमनय में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, क्योंकि दोनों में ही वर्तमान में कार्य असम्पन्न ही है; न तो अभी प्रस्थ ही बना है और न भात ही पका है।

उत्तर ह यद्यपि यह पूर्णतः सत्य है कि न तो अभी प्रस्थ ही बना है और न भात ही पका है; तथापि भात बनना जितना सन्निकट है, प्रस्थ बनना उतना निकट नहीं है; क्योंकि भात बनने की प्रक्रिया तो आरम्भ हो चुकी है, पर अभी प्रस्थ का तो ठिकाना ही नहीं है। यह निकटता और दूरी ही वर्तमाननैगमनय एवं भावीनैगमनय की विभाजनरेखा है।

एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि वर्तमाननैगमनय और भावीनैगमनय के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि अभी कार्य निष्पन्न नहीं हुआ है; पर भूतनैगमनय के विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह कार्य अभी निष्पन्न नहीं हुआ है; क्योंकि भूतकालीन कार्य तो सम्पन्न हो ही चुकते हैं।

अतः अनिष्पन्न कार्य में निष्पन्न कार्य के समान व्यवहार करने की बात भूतनैगमनय पर किसप्रकार घटित होगी ?

उत्तर हू भाई ! यहाँ 'अनिष्पन्न' का अर्थ मात्र इतना ही है कि जिस कार्य को निष्पन्न होता बताया जा रहा है, वह कार्य अभी वर्तमान में निष्पन्न नहीं हो रहा है। 'अनिष्पन्न' का अर्थ 'वर्तमान में निष्पन्न नहीं हो रहा' मात्र इतना ही है।

वह कार्य पहले निष्पन्न हो चुका है या नहीं, भविष्य में निष्पन्न होगा या नहीं - इन सबसे यहाँ कुछ भी प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो बस बात इतनी सी ही है कि वह कार्य अभी निष्पन्न नहीं हो रहा है और संकल्प के आधार पर ऐसे कहा जा रहा है कि मानो वह कार्य अभी ही सम्पन्न हो रहा हो।

भूतनैगमनय के प्रकरण में मात्र इतना ही प्रयोजन है, इससे अधिक कुछ नहीं।

इन नैगमादि सप्त नयों का विभाजन ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी किया जाता है।

सत् (अर्थात्मक जगत) व असत् (ज्ञानात्मक जगत) को विषय बनानेवाला नैगमनय; ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनयों में अर्थनय के साथ-साथ ज्ञाननय भी है।

इस परिवर्तनशील जगत का प्रत्येक प्राणी अपने विचारात्मक जगत में अनेक प्रकार की कल्पनायें तो किया ही करता है, साथ में अपने संभव-असंभव विकल्पों को साकार करने के लिये अनेक प्रकार के संकल्प भी करता रहता है; तथापि यह आवश्यक नहीं कि जो योजनायें

उसने अपने विचारों में बनाई हैं, वे साकार हो ही जावें। चाहे वे कभी साकार हों या न हों, पर अभी विकल्पों में तो हैं ही।

उन संकल्प-विकल्पों को विषय बनाने के कारण ही यह नैगमनय ज्ञाननय कहा जाता है; क्योंकि वे संकल्प-विकल्प ज्ञानात्मक वस्तु ही हैं।

जिसतरह की कल्पनायें और संकल्प-विकल्प किये गये हैं, वर्तमान जगत में वे वस्तुयें उसरूप में नहीं हैं; इसकारण उन्हें असत् कहा जाता है और उन संकल्पों-विकल्पों को विषय बनाने के कारण नैगमनय को असत् को विषय बनानेवाला नय कहा जाता है।

असत् अर्थात् ज्ञानात्मक जगत को विषय बनानेवाला यह नैगमनय (ज्ञाननय) लोकव्यवहार में सर्वाधिक प्रचलित एवं अत्यन्त उपयोगी नय है। यदि इस नय के संदर्भ में हम अपने दैनिक जीवन के व्यावहारिक प्रयोगों पर दृष्टि डालें तो हमें इसकी उपयोगिता सहज ही भासित होगी।

इनमें नैगमनय; ज्ञाननय और अर्थनयरूप है। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र हू ये तीन नय मात्र अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ और एवंभूत हू ये तीन नय शब्दनय हैं।

इसमें एक बात और भी अधिक ध्यान रखने की यह है कि इन शब्दनयों में पहले भेद का नाम भी शब्दनय है और तीनों के समुदाय का नाम भी शब्दनय है। अतः इनके प्रयोग के समय यह सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि प्रस्तुत प्रकरण में कौन से शब्दनय का प्रयोग हुआ है।

इसप्रकार उक्त सात नयों में ज्ञाननय तो मात्र नैगमनय ही है, परन्तु अर्थनय; नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र हू ये चार नय हैं। और शब्दनय; शब्द, समभिरूढ और एवंभूत हू ये तीन नय हैं।

इसप्रकार ये ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय; नैगमादि सप्तनय के ही वर्गीकृत भेद हैं।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भूतनैगमनय का सशक्त उदाहरण हैं। एक कोड़ाकोड़ी सागर पहले हुये ऋषभदेव एवं उनके पंचकल्याणकों को वर्तमान में होनेवाले पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों में वर्तमानवत् ही व्यवहार किया जाता है।

‘आज नीलांजना का नृत्य होगा और राजा ऋषभदेव दीक्षा ग्रहण करेंगे’ प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा दी गई इसप्रकार की सूचनाओं को क्या हम असत्य मानते हैं ?

नहीं, कदापि नहीं।

तो क्या सचमुच आज नीलांजना का नृत्य होगा या राजा ऋषभदेव दीक्षा लेंगे ?

नहीं, यह भी सत्य नहीं है; क्योंकि राजा ऋषभदेव तो एक कोड़ाकोड़ी सागर पहले ही दीक्षा ले चुके हैं, आज तो वे सिद्धदशा में विराजमान हैं।

सम्पूर्ण स्थिति को भलीभाँति समझनेवाले श्रोताओं या दर्शकों को प्रतिष्ठाचार्यों की इसप्रकार की घोषणाओं से कोई परेशानी खड़ी नहीं होती; क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते हैं कि यहाँ भूतकालीन घटनाओं को वर्तमानवत् व्यवहार किया जा रहा है।

यह सम्पूर्ण व्यवहार भूतनैगमनय की अपेक्षा ही संभव है। साधारण जनता भले ही नैगमनय का नाम न जानती हो, उसकी परिभाषा भी न समझती हो; तथापि उसकी कथन शैली से भली-भाँति परिचित है। यही कारण है कि उसे कोई उलझन खड़ी नहीं होती।

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि सबसे पहले किसी के कल्पनालोक अर्थात् ज्ञानजगत में ही अवतरित हुई होगी, पश्चात् कागज पर आई होगी और उसके बाद इसका क्रियान्वयन आरंभ हुआ है। यह ज्ञानजगत का अद्भुत उत्पादन है, जिसे नैगमनय अपना विषय बनाता है।

इसीप्रकार भावीचौबीसी की प्रतिष्ठा को भावीनैगमनय एवं विद्यमान सीमन्धरादि बीस तीर्थकरों की प्रतिष्ठा को वर्तमाननैगमनय के उदाहरण माने जा सकते हैं।

लोक में भी हम इसप्रकार के अगणित प्रयोग प्रतिदिन करते रहते हैं।

मेडिकल कॉलेज में प्रविष्ट छात्र को डॉक्टर कहना, राजपुत्र को राजासाहब कहना – इसीप्रकार के प्रयोग हैं, जो क्रमशः वर्तमान व भावीनैगमनय के उदाहरण हैं। सेवानिवृत्त न्यायाधीश को जजसाहब कहना, दीक्षित या सिद्धदशा को प्राप्त भरत को भी भरत चक्रवर्ती कहना भूतनैगमनय के उदाहरण हैं।

अभी तक नैगमनय का जितना भी कथन किया गया है, वह सब ज्ञाननय के रूप में ही किया गया है, परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि नैगमनय ज्ञाननय के साथ-साथ अर्थनय भी है।

अतः नैगमनय की परिभाषा एवं भेद-प्रभेद दोनों ही दृष्टियों से किये जाना आवश्यक है। यदि ज्ञाननय की अपेक्षा यह संकल्पग्राही नय है और इसके भूत, भावी एवं वर्तमाननैगमनय – ऐसे कालकृत तीन भेद हैं तो अर्थनय की दृष्टि से इसकी परिभाषा क्या है और इसे कितने विभागों में बाँटा जा सकता है – यह भी विचारणीय विषय है।

द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु ही अर्थ है; अतः अर्थनय की दृष्टि से नैगमनय की विषयभूत वस्तु में द्रव्य, गुण, पर्याय-सभी समा जाते हैं।

अब यह देखना है कि यह नैगमनय द्रव्य, गुण व पर्याय को किस रूप में अपना विषय बनाता है।

अर्थनय की अपेक्षा नैगमनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्र वर्णी लिखते हैं :-

“अर्थनय की अपेक्षा करने पर नैगमनय का लक्षण ‘एक को ग्रहण न करके दो को ग्रहण करना’ है। अर्थात् संग्रहनय के विषयभूत अभेद को तथा व्यवहारनय के विषयभूत भेद को दोनों को ही युगपत्, परन्तु मुख्य-गौण के विकल्प से ग्रहण करना नैगमनय है।

वहाँ संग्रहनय अनेकों में अनुगत सामान्य को ग्रहण करके वस्तु को एक मानता है और व्यवहारनय उसी वस्तु में अनेकों द्रव्य, गुण व पर्यायगत विशेषों का ग्रहण करके उसे अनेकरूप मानता है। जैसे ‘जीव

एक है - यह संग्रहनय कहलाता है और 'जीव दो प्रकार का है :- संसारी व मुक्त' - यह व्यवहारनय कहलाता है, परन्तु इन दोनों नयों के विषयों को मुख्य-गौणभाव से युगपत् ग्रहण करना नैगमनय का विषय है।

उससे कहीं संग्रहनय का अभेद विषय मुख्य होता है तो व्यवहारनय का भेद विषय गौण हो जाता है। जैसे - जो यह संसारी व मुक्त दो प्रकार का कहा जा रहा है, वह वास्तव में एक जीव ही है। कहीं व्यवहारनय का भेद विषय मुख्य हो जाता है और संग्रहनय का अभेद विषय गौण हो जाता है। जैसे :- यह जो एक जीव कहा जा रहा है, वही संसारी व मुक्त के भेद से दो प्रकार का है।

नैगम के इस लक्षण का विषय सत्ताभूत पदार्थ ही है, क्योंकि यह अर्थनय है।”

इसप्रकार ज्ञाननय की अपेक्षा तीन भेद एवं अर्थनय की अपेक्षा नौ भेद - कुल मिलाकर नैगमनय के बारह भेद हो जाते हैं।

इन सबकी विशेष जानकारी के लिए श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये, विस्तारभय से यहाँ इससे अधिक लिखना इष्ट प्रतीत नहीं होता।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन पर सूक्ष्म दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि नैगमनय अत्यन्त व्यापक नय है। इसके पेट में द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अर्थात्मक सत्-जगत एवं भूत, भविष्य और वर्तमानरूप ज्ञानात्मक असत्-जगत सब-कुछ समाया हुआ है।

२. संग्रहनय ह्य प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों द्वारा अपनी जाति का विरोध न करते हुए सभी विशेषों का कथंचित् एकत्वरूप से ग्रहण करना संग्रहनय है।^१

सत्ता दो प्रकार की होती है ह्य १. महासत्ता और २. अवान्तरसत्ता।

महासत्ता को विषय बनानेवाला संग्रहनय शुद्धसंग्रह नय कहा जाता

है और अवान्तरसत्ता को विषय बनानेवाला संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय कहा जाता है। शुद्धसंग्रहनय को सामान्यसंग्रह, परसंग्रह एवं अशुद्धसंग्रहनय को विशेषसंग्रह, अपरसंग्रह नामों से भी अभिहित किया जाता है।

सभी पदार्थों को अपने में समेट लेने में समर्थ सत्सामान्य को ग्रहण करनेवाला संग्रहनय शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है। चूँकि 'सत्ता' द्रव्य का लक्षण है, अतः 'द्रव्य' शब्द से भी जगत की सभी वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है।

सत्सामान्य द्रव्य का लक्षण है तो चित्सामान्य जीव का लक्षण है; अतः चित्सामान्य की अपेक्षा सभी जीव एक हैं।

'जीव' शब्द अनन्त जीवों को अपने में समेटे है, अतः वह संग्रहनय का विषय है; पर यह संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय है, क्योंकि इसमें लोक के समस्त पदार्थों का संग्रह नहीं हो पाया है। एक जातिविशेष के पदार्थों का संग्रह होने से यह संग्रहनय तो है, पर सम्पूर्ण पदार्थों का संग्रह न होने से इसे शुद्धता प्राप्त नहीं है।

अस्तित्व महासत्ता है और चेतनत्व अवान्तरसत्ता। महासत्ता का ग्राहक संग्रहनय शुद्ध होता है और अवान्तरसत्ता का ग्राहक संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय है।

एक जाति के आधार पर जगत के अनन्तानन्त पदार्थों में एकता स्थापित करनेवाला यह नय मात्र वस्तु के स्वरूप को समझने में ही उपयोगी नहीं, अपितु लौकिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है।

इस नय के अनुसार 'होना' भी एक जाति है; मात्र एक जाति नहीं, अपितु सबसे बड़ी जाति है; एकमात्र शुद्ध जाति है; इसके अतिरिक्त और सभी जातियाँ अशुद्ध हैं, क्योंकि वे सबको संगृहीत करने में समर्थ नहीं हैं।

एकमात्र 'होना' अर्थात् 'अस्तित्व' ही एक ऐसी जाति है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण जगत में एकता स्थापित हो सकती है। यही कारण

है कि अस्तित्व के आधार पर एकता स्थापित करनेवाले नय को ही शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है, शेष सभी संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय हैं।

क्षुद्र जातिवाद के आडम्बर में उलझे इस जगत ने कभी सोचा भी न होगा कि 'होना' भी एक जाति हो सकती है। इस जाति के अनुसार सभी चेतन और जड़ पदार्थ एक ही जाति के हैं। हम भी, तुम भी, और भी जो हैं, वे सभी एक 'हैं' जाति के ही हैं। 'हैं' के अतिरिक्त कोई ऐसी जाति नहीं, जो शुद्ध जाति हो; क्योंकि 'हैं' - इस एकमात्र जाति के आधार पर जो एकता स्थापित होती है, उसे ही शुद्धसंग्रहनय कहते हैं।

जो जातिवाद संग्रह का हेतु है, उसे आज हमने अपनी भूल से विग्रह का हेतु बना लिया है।

संग्रहनय के स्वरूप पर गहरी दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि यह नय सामाजिक एकता की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी नय है; क्योंकि यह नय जाति का सम्यक् स्वरूप बताकर जातिवाद का जहर उतारनेवाला सम्यक्नय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि संग्रहनय का एकमात्र कार्य विभिन्न सत् पदार्थों में समानता के आधार पर एकता स्थापित करना ही है।

३. व्यवहारनय ह्य संग्रहनय द्वारा संगृहीत पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है।^१ संग्रहनय के समान यह भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है।

जो संग्रहनय के द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ का भेद करता है, वह व्यवहारनय है। अशुद्ध अर्थ का भेद करनेवाले अशुद्ध व्यवहारनय है और शुद्ध अर्थ का भेद करनेवाला शुद्धव्यवहारनय।

शुद्धव्यवहारनय को सामान्यव्यवहारनय एवं अशुद्धव्यवहारनय को विशेषव्यवहारनय भी कहते हैं।

महासत्ता की अपेक्षा सभी पदार्थ सन्मात्र हैं, एक हैं, द्रव्य हैं - इस

१. संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।

योऽवहारो विभागः स्याद् व्यवहारो नयः स्मृतः॥

- श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ७२

शुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित करके कहना है कि द्रव्य छह प्रकार के हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। इसप्रकार भेद करनेवाला व्यवहारनय शुद्धव्यवहारनय है; क्योंकि इसने शुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित किया है।

अवान्तरसत्ता के आधार पर सभी जीवों में एकत्व स्थापित करनेवाले अशुद्धसंग्रहनय के विषयभूत 'जीव' नामक द्रव्य को भी विभाजित करके कहना कि जीव दो प्रकार के होते हैं - संसारी और मुक्त, अशुद्धव्यवहारनय का कार्य है; क्योंकि इस कथन में अशुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित किया गया है।

अशुद्धव्यवहारनय के माध्यम से किया जानेवाला यह विभाजन निरन्तर तबतक चलता रह सकता है; जबतक कि स्थिति अविभाज्य अंश तक न पहुँच जाये।

यदि व्यवहारनय संग्रहनय के द्वारा संगृहीत पदार्थों को अन्तिम बिन्दु तक विभाजित करता है तो संग्रहनय व्यवहारनय द्वारा विभाजित पदार्थों को उस अन्तिम बिन्दु तक संगृहीत करता है कि जिसमें सम्पूर्ण जगत ही समाहित हो जाता है।

इसप्रकार संग्रह और व्यवहारनय एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करनेवाले होने पर भी एक-दूसरे के पूरक नय हैं। यदि संग्रहनय संधि है, समास है तो व्यवहारनय विच्छेद है, विग्रह है। यदि संग्रहनय भेद में अभेद स्थापित करनेवाला अभेदकनय है तो व्यवहारनय अभेद में भेद करनेवाला भेदकनय।

इन दोनों नयों की दिशा एकदम एक-दूसरे के विपरीत है। ये दोनों नय मथानी की डोरी के उन दोनों छोरों के समान हैं, जो एक-दूसरे के विरुद्ध ताकत लगाते हैं। एक छोर के आगे बढ़ने पर दूसरे का पीछे हटना अनिवार्य हो जाता है। एक-दूसरे के आगे बढ़ने और पीछे हटने की निरन्तर गतिशील इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही दही में से मक्खन निकलता है।

तत्त्वरूपी मक्खन की प्राप्ति के लिये संग्रह-व्यवहार की यह मंथन-प्रक्रिया निरन्तर चलना अत्यन्त आवश्यक है। सादृश्यास्तित्व से स्वरूपास्तित्व के छोर तक और स्वरूपास्तित्व से सादृश्यास्तित्व के छोर तक निरन्तर घूमनेवाला यह नयचक्र वस्तुस्वरूप समझने का, प्रतिपादन करने का अमोघ चक्र है।

संगठन का आधार संग्रहनय है और विघटन का आधार व्यवहारनय। समाज के विकास और व्यवस्था के लिये दोनों की ही अत्यन्त आवश्यकता है। सामाजिक विकास के लिये संगठन की आवश्यकता से तो सभी भली-भाँति परिचित हैं, इसके संबंध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु विघटन भी समाज के लिये कितना उपयोगी है, इस पर किंचित् विचार अवश्य अपेक्षित है।

हमारे इस भारत देश की समृद्धि के लिये जितनी आवश्यक इसकी अखण्डता है, प्रान्तों, जिलों आदि में विभाजित करना भी उससे कम आवश्यक नहीं; विकास और व्यवस्था के लिये विभाजन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

ध्यान रखने की बात यह है कि यह विभाजन अखण्डता को खण्डित करनेवाला नहीं होना चाहिये। जिसप्रकार अखण्डता को कायम रखकर व्यवस्था के लिये किया गया विभाजन देश को सुखी और समृद्ध करता है; उसीप्रकार सन्मात्र को कायम रखकर किया गया विभाजन वस्तुस्वरूप को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

समष्टि की ओर ले जाने वाला संग्रहनय है और व्यष्टि की ओर ले जानेवाला व्यवहारनय।

व्यक्तियों को समाज के रूप में संग्रह करनेवाला नय संग्रहनय है और समाज को अपने वर्गों में विभाजित करते हुए व्यक्ति तक पहुँचाना व्यवहारनय का कार्य है।

लोक में व्यक्ति और समाज दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति की उपेक्षा करनेवाला समाज और समाज की उपेक्षा करनेवाला व्यक्ति -

दोनों ही अभीष्ट की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होते। दोनों में से किसी की भी उपेक्षा उचित नहीं है; संभव भी नहीं है, दोनों के समुचित समादर में ही समाज व व्यक्ति का हित निहित है।

सादृश्यास्तित्व से लेकर स्वरूपास्तित्व के बीच ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जो संग्रह व व्यवहार दोनों ही नयों के विषय बनते हैं, पर दोनों नयों के दृष्टिकोण अलग-अलग होने से दोनों के मुख परस्पर विरुद्ध ही रहते हैं।

संग्रहनय संग्रहोन्मुखी है और व्यवहारनय विभाजनोन्मुखी। जब हम जीवों को गतियों की अपेक्षा चार भागों में विभाजित करते हैं और कहते हैं कि जीव के चार प्रकार हैं - देव, मनुष्य, तिर्यच और नारकी; तब 'मनुष्य' व्यवहारनय का विषय बनता है; किन्तु जब हम 'मनुष्य' शब्द से मनुष्य गति के समस्त जीवों का संग्रह करते हैं, तब वह संग्रहनय का विषय बनता है।

ध्यान रहे यह व्यवहारनय; निश्चय-व्यवहारवाले व्यवहारनय एकदम जुदा हैं। यह व्यवहारनय, संग्रहनय के विरुद्ध है और वह व्यवहारनय निश्चयनय के विरुद्ध है।

यदि निश्चय-व्यवहारवाले व्यवहारनय के विषय में जानना चाहते हैं तो आपको लेखक की अन्य कृति परमभावप्रकाशकनयचक्र में निश्चय-व्यवहार संबंधी प्रकरण का अध्ययन करना चाहिए।

इसीप्रकार व्यवहारनय संग्रहनय द्वारा संगृहीत विषयों को विभाजित करता है और संग्रहण व्यवहारनय द्वारा विभाजित विषयों को संगृहीत करता है। यद्यपि संग्रह और विभाजन की ये क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं; तथापि उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक क्रियाएँ ही हैं; क्योंकि यदि संग्रहनय द्वारा अनेक पदार्थ संगृहीत नहीं किये जावेंगे तो व्यवहारनय विभाजन किसका करेगा ? इसीप्रकार यदि व्यवहारनय द्वारा पदार्थ विभाजित नहीं होंगे तो संग्रहनय किसका संग्रह करेगा ?

संग्रह और विभाजन की यह क्रिया ज्ञान में जितनी अधिक सम्पन्न होगी, वस्तुस्वरूप भी ज्ञान में उतना ही अधिक स्पष्ट प्रतिभासित होगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक, अद्वैत और द्वैत के ग्राहक ये संग्रह और व्यवहारनय लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी एवं जिनागम के आधारभूत नय हैं।

४. ऋजुसूत्रनय ह्य यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि द्रव्यार्थिकनय सामान्यग्राही होता है और पर्यायार्थिकनय विशेषग्राही। सामान्यग्राही द्रव्यार्थिकनयों में अद्वैतग्राही संग्रहनय, द्वैतग्राही व्यवहारनय एवं उभयग्राही व संकल्पग्राही नैगमनय की चर्चा अपेक्षित विस्तार से हो चुकी है। अब विशेषग्राही पर्यायार्थिकनय के रूप में ऋजुसूत्रनय की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।

ऋजुसूत्रनय मुख्यरूप से क्षण-क्षण में ध्वंस होनेवाली पर्यायों को वस्तुरूप से विषय करता है, विद्यमान होते हुए भी विवक्षा नहीं होने से इसमें द्रव्य की गौणता है।

यह ऋजुसूत्रनय भी दो प्रकार का है :- १. सूक्ष्मऋजुसूत्रनय एवं २. स्थूलऋजुसूत्रनय।

जो द्रव्य में एकसमयवर्ती अध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे - सभी शब्द क्षणिक हैं। और जो अपनी स्थिति-पर्यन्त रहनेवाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने समय तक एक मनुष्यपर्यायरूप से ग्रहण करता है, वह स्थूलऋजुसूत्रनय है।

सूक्ष्मऋजुसूत्रनय एकसमयवर्ती अर्थपर्याय अर्थात् गुणपर्याय को अपना विषय बनाता है और स्थूलऋजुसूत्रनय अनेकसमयवर्ती व्यंजनपर्याय अर्थात् द्रव्यपर्याय को अपना विषय बनाता है।

सूक्ष्मऋजुसूत्रनय को शुद्धऋजुसूत्र एवं स्थूलऋजुसूत्रनय को अशुद्धऋजुसूत्रनय भी कहते हैं।

यद्यपि यह बात परमसत्य है कि वर्तमान एक समयमात्र ही होता है; क्योंकि वर्तमान के एक समय पूर्व तक का काल भूतकाल तथा वर्तमान के एक समय बाद का काल भविष्य काल कहा जाता है। भूत-भविष्य के बीच मात्र एक समय ही रहता है, जो वर्तमानकाल कहा जाता है। वास्तविक अर्थपर्याय-गुणपर्याय भी एक समयमात्र ही स्थिर रहती है और वही वास्तविक पर्याय है; अतः उसे ही शुद्धपर्याय कहते हैं।

यहाँ शुद्धपर्याय से तात्पर्य निर्विकारी निर्मल पर्याय से नहीं है, अपितु अनेक पर्यायों के समुदायरूप पर्याय न होकर अकेली एक पर्याय से है। चाहे वह पर्याय समल हो या निर्मल, पर अकेली हो तो शुद्ध ही है। यहाँ उसका एकत्व ही शुद्धता है। यही कारण है कि एकसमयवर्ती पर्याय को विषय बनाने वाले ऋजुसूत्रनय को शुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है।

एकसमयवर्ती पर्याय के अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसे विषय करनेवाले नय को सूक्ष्मऋजुसूत्रनय भी कहा जाता है और यही वास्तविक ऋजुसूत्रनय है; तथापि यह भी तो सत्य है कि वह एकसमयवर्ती पर्याय क्षयोपशम ज्ञान वालों की पकड़ में अनेक समय बाद ही आती है। बाद में भी वह सीधी पकड़ में कहाँ आती है? उसे तो अनुमान और आगम प्रमाण से ही जाना जाता है। उसके माध्यम से कुछ भी व्यवहार संभव नहीं है।

यही कारण है कि अनेक पर्यायों के समूहरूप मनुष्यादि व्यंजनपर्यायों-द्रव्यपर्यायों के आधार पर ही ऋजुसूत्रनय संबंधी समस्त व्यवहार चलता है, जो कि अनुचित भी नहीं है; क्योंकि जिनागम में भी मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यच आदि पर्यायों को 'पर्याय' संज्ञा दी गई है।

ये मनुष्यादि पर्यायें अनेक पर्यायों के समूहरूप पर्यायें हैं; अतः अशुद्ध कही जाती हैं और इन्हें विषय बनानेवाले नय को भी अशुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है। ये पर्यायें सामान्यजन के भी बुद्धिगोचर होने से स्थूल हैं, अतः इन्हें ग्रहण करनेवाले नय को स्थूलऋजुसूत्रनय

भी कहा जाता है।

यद्यपि वास्तविक वर्तमान एक समय का ही होता है; तथापि आज, इसी माह, इसी वर्ष, इसी शताब्दी में, इसी पंचम काल में, इसी अवसर्पिणी में आदि को भी तो वर्तमान के रूप में ही कहा जाता है।

क्या जिनागम में ऋषभदेव से लेकर महावीर तक के तीर्थकरों को वर्तमान-चौबीसी के रूप में नहीं बताया गया है ? क्या एक कोड़ा-कोड़ी सागर पहले हुए ऋषभदेव को वर्तमान तीर्थकर के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता है ?

इसतरह हम देखते हैं कि यदि निश्चयवर्तमान एक समय का ही होता है तो व्यवहारवर्तमान दो समयों से लेकर करोड़ों वर्ष तक का भी माना जाता रहा है। इस व्यवहारवर्तमान को ही स्थूलवर्तमान - अशुद्धवर्तमान नाम से अभिहित किया जाता है और इसके ग्राहक ऋजुसूत्रनय को स्थूलऋजुसूत्रनय या अशुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है।

शब्दनय

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय के भेद से की गई नयों की चर्चा में ज्ञाननय के रूप में नैगमनय एवं अर्थनय के रूप में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय की चर्चा अपेक्षित विस्तार से हो चुकी है।

अब शब्दनयों की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।

ये शब्दनय तीन प्रकार के हैं -

(१) शब्दनय (२) समभिरूढनय (३) एवंभूतनय।

ध्यान रखने की बात यह है कि उक्त तीनों नयों का सामूहिक नाम भी शब्दनय है और इनमें से प्रथम का नाम भी शब्दनय है। उक्त तीनों नय शब्दों के प्रयोगों पर विचार करते हैं, उन्हें सुसंगत रीति से नियंत्रित करते हैं। यही कारण है कि उक्त तीनों को ही शब्दनय संज्ञा प्राप्त है।

उक्त तीनों नयों के समुदायरूप शब्दनय को व्यंजननय भी कहते हैं; क्योंकि उक्त तीनों नयों के विषयभूत लिखे व बोले जानेवाले शब्द पुद्गलद्रव्य की व्यंजनपर्यायरूप होते हैं। इसीकारण ये तीनों नय

पर्यायार्थिकनय भी कहे जाते हैं।

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा के बिना वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भाषा के सुसंगत एवं निर्दोष प्रयोग के बिना प्रतिपादन में अनेक ऐसी गंभीर भूलें भी संभव हैं कि जिनसे अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। अतः जिनागम में निर्दोष प्रतिपादन के लिये व्याकरणसंमत भाषा के प्रयोगों में भी और अधिक कसावट लाने के लिए इन शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूतनयों का प्रयोग किया गया।

५. शब्दनय ह्य लौकिक व्याकरण का अनुसरण करनेवाला ऋजुसूत्रनय लिंग, संख्या आदि के व्यभिचारों को व्याकरण के नियमों के अपवाद रूप से स्वीकार कर लेता है, पर शब्दनय को वह सहन नहीं होते; अतः समान लिंग व संख्या-वाचक शब्दों को ही एकार्थवाचक रूप से ग्रहण करता है।

जिसप्रकार भिन्नस्वभावी पदार्थ भिन्न ही होते हैं, उनमें किसी प्रकार भी अभेद नहीं देखा जा सकता; उसीप्रकार भिन्न लिंग आदि वाले शब्द भी भिन्न ही होने चाहिए, उनमें किसी प्रकार की भी एकार्थता घटित नहीं हो सकती और इसप्रकार दार, भार्या, कलत्र - ये भिन्न लिंग वाले तीन शब्द अथवा नक्षत्र, पुनर्वसू, शतभिषज ये भिन्नसंख्यावाचक तीन शब्द और इसीप्रकार अन्य भी भिन्नस्वभाववाची शब्द, भले ही व्यवहार में या लौकिक व्याकरण में एकार्थवाची समझे जायें, परन्तु शब्दनय इनको भिन्न अर्थ का वाचक समझता है।

अतः समान लिंग व संख्या वाले शब्दों में ही एकार्थवाचकता बन सकती है। जैसे - इन्द्र, पुरन्दर, शक्र - ये तीनों शब्द समान पुल्लिङ्गी होने के कारण एक 'शचीपति' के वाचक है - ऐसा शब्दनय कहता है।

तात्पर्य यह है कि काल, कारक, लिंग, संख्या, वचन और उपसर्ग

के भेद से शब्द के अर्थ में भेद मानने को शब्दनय कहते हैं।

६. **समभिरूढनय** ह्य यद्यपि शब्दनय लिंग, संख्या, वचन, काल एवं उपग्रह संबंधी व्यभिचारों को स्वीकार नहीं करता; तथापि इन दोषों से रहित एकार्थवाची शब्दों की सत्ता स्वीकार करता है। इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दों का अर्थ एक देवराज ही है, शचीपति ही है - यह उसे सहर्ष स्वीकार है।

यद्यपि यह सत्य है कि उक्त तीनों शब्द देवराज के पर्यायवाची हैं, एक देवराज के लिये ही प्रयुक्त होते हैं; तथापि निरुक्ति की दृष्टि से विचार करें तो उनके अर्थ में अन्तर भी विद्यमान है। 'इन्द्र' शब्द ऐश्वर्य, 'शक्र' शब्द सामर्थ्य एवं 'पुरन्दर' शब्द पुर को भेदन करने की क्रिया की ओर संकेत करता है। ऐश्वर्यवान इन्द्र, सामर्थ्यवान शक्र एवं पुर को भेदनेवाला पुरन्दर कहा जाता है।

शब्दनय शब्द के भेद से अर्थ में भेद होनेवाले इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देता और वह इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द को समान अर्थ के द्योतक पर्यायवाची शब्द ही स्वीकार कर लेता है; पर समभिरूढनय की दृष्टि में कोई शब्द पर्यायवाची होते ही नहीं हैं।

समभिरूढनय का कहना है कि लोक में जितने पदार्थ हैं, उनके वाचक शब्द भी उतने ही हैं। यदि अनेक शब्दों का एक ही अर्थ माना जायेगा तो उनके वाच्य पदार्थों को भी मिलकर एक हो जाना होगा, जो कि संभव नहीं है। अतः यही उचित है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ही स्वीकार किया जावे।

अतः स्पष्ट है कि शब्दनय के द्वारा ग्रहण किये गये समानस्वभावी एकार्थवाची शब्दों में निरुक्ति या व्युत्पत्ति-अर्थ से अर्थभेद की स्थापना करना समभिरूढनय का मुख्य कार्य है।

समभिरूढनय की जो व्याख्या अभी तक की गई है, एक वस्तु के वाचक अनेक शब्दों के संदर्भ में ही की गई है; अब अनेकार्थवाची शब्दों के संदर्भ में विचार करते हैं।

अनेकार्थवाची शब्दों के सब अर्थों को गौण करके एक लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही ग्रहण करना समभिरूढनय का काम है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि समभिरूढनय के मूल दो कार्य हैं ह्य अर्थारूढ और शब्दारूढ।

समानस्वभावी एकार्थवाची शब्दों में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद की स्थापना करना अर्थारूढ है। एक देवराज के वाचक शक्र, इन्द्र और पुरंदर शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करना इसका उदाहरण है।

अनेकार्थवाची शब्दों के एक लोकप्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार कर अन्य अर्थों की उपेक्षा कर देना शब्दारूढ है। ग्यारह अर्थों वाले 'गो' शब्द का मात्र 'गाय' के अर्थ में ही प्रयोग करना इसका उदाहरण है।

इसप्रकार यह समभिरूढनय अर्थारूढ और शब्दारूढ के भेद से प्रकार का होता है।

७. **एवंभूतनय** ह्य व्याकरणसंमत अपवादों को भी अस्वीकार कर शब्दनय ने एवं एकार्थवाची शब्दों के व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार कर समभिरूढनय ने प्रतिपादन-शैली एवं भाषा को बहुत कुछ सुगठित कर दिया था; तथापि एवंभूतनय का कहना है कि 'गच्छतीति गोः' - इस निरुक्ति के अनुसार गमन करती हुई गाय को ही 'गो' कहा जा सकता है, बैठी हुई गाय को नहीं।

यद्यपि समभिरूढनय भी शब्दनय के समान एकार्थवाची अनेक शब्दों की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसका स्पष्ट मत है कि जितने शब्द हैं, उनके वाच्य पृथक्-पृथक् उतने ही होने चाहिये; तथापि वह यह स्वीकार कर लेता है कि विशिष्ट अर्थवाले विशिष्ट शब्द जिस व्यक्ति या वस्तु के वाचक हैं, वे उस व्यक्ति या वस्तु के वाचक मात्र उस क्रिया को करते समय ही नहीं, अपितु आगे-पीछे भी उन्हें उन नामों से अभिहित किया जा सकता है, पर एवंभूतनय को यह स्वीकार नहीं है।

एवंभूतनय का तो स्पष्ट कहना है कि जो पदार्थ जिस समय जो क्रिया कर रहा हो, उसे उस समय उसी नाम से पुकारा जाय। देवराज

को इन्दनक्रिया करते समय ही इन्द्र कहा जा सकता है, पुर का दारण करते समय नहीं।

दूसरी बात यह है कि जिस ज्ञान से आत्मा परिणत हो, उसी रूप से उसका निश्चय करानेवाला नय एवंभूतनय है। जैसे इन्द्ररूप ज्ञान से परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञान से परिणत आत्मा अग्नि है।

उक्त कथन में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस समय जो आत्मा जिस पदार्थ को जान रहा हो, उस समय वह आत्मा वही है, अर्थात् उसे उस समय उसी नाम से पुकारा जाना चाहिए। अग्नि को जानने में संलग्न आत्मा अग्नि ही है – यह अभिप्राय है एवंभूतनय का।

जो जिस समय जिस पदार्थ का ज्ञान कर रहा हो, उस समय उस व्यक्ति विशेष को उस पदार्थ के नाम से ही पुकारना चाहिये; जैसे कि गाय को देखने में उपयुक्त व्यक्ति उस समय 'गाय' शब्द का वाच्य है, मनुष्य या जीव शब्द का नहीं। कारण कि व्यक्ति तो ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान का संज्ञाकरण ज्ञेय के बिना किया नहीं जा सकता। एवंभूत की एकत्वदृष्टि में घट व ज्ञान अथवा ज्ञान व ज्ञानधारी जीव – ऐसा द्वैत कहाँ ? अतः घट आदि ज्ञेय ही ज्ञान हैं और वह ज्ञान ही वह व्यक्ति है; अतः घटरूप ही वह व्यक्ति है; अतः व्यक्ति विशेष को 'घट' या 'गाय' कहना उस समय युक्त है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों ही नय भाषा के प्रयोगों को आवश्यकतानुसार सुसंगत रूप प्रदान करनेवाले और उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले हैं। ये ही क्यों, नैगमादि सातों ही नय क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषय वाले हैं और पूर्व-पूर्व के नय आगे-आगे के नयों के हेतु भी हैं। इन सातों नयों को उक्त क्रम में रखने का कारण भी यही है। जैसा कि कहा गया है ह्य

“उत्तरोत्तरसूक्ष्मविष्यत्वादेशां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च । एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया.... ।”

उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयवाले होने के कारण इनका यह क्रम कहा है। पूर्व-पूर्व के नय आगे-आगे के नयों के हेतु हैं; इसलिये भी यह क्रम कहा है। इसप्रकार ये नय पूर्व-पूर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्पविषयवाले हैं।

इसप्रकार नैगमादि सप्तनयों का यह संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

दूसरा अध्याय

जीवतत्त्व के असाधारण भाव

विगत अध्याय में सम्यग्दर्शन को परिभाषित करते हुए जीवादि सप्त तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। अतः अब तत्त्वार्थों का विवेचन प्रसंग प्राप्त है। इसलिए अब इस दूसरे अध्याय में सर्वप्रथम जीव तत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं; जो चौथे अध्याय तक चलेगी।

अथवा विगत अध्याय में प्रमाण और नयों की चर्चा की गई है। अतः अब यहाँ उनके प्रमेयरूप जीवादि तत्त्वार्थों में से सर्वप्रथम जीव तत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं; जो चौथे अध्याय तक चलेगी।

जो भाव सभी द्रव्यों में पाये जावें, उन्हें सामान्य या साधारण भाव कहते हैं; परन्तु जो भाव द्रव्य विशेष में पाये जायें; उन्हें विशेष भाव या असाधारण भाव कहते हैं।

अतः अब यहाँ सर्वप्रथम आत्मा की पहिचान के लिए जीवों के असाधारण (विशेष) भावों की चर्चा आरंभ करते हैं। यह चर्चा सातवें सूत्र तक चलेगी।

उक्त सात सूत्रों में आदि के दो सूत्र इसप्रकार हैं ह

**औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-
मौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥**

द्विन्वाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक) औदयिक और पारिणामिक हूँ ये पाँच भाव जीव के स्वतत्त्व हैं, असाधारण भाव हैं ॥१॥

उक्त पाँच भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस व तीन भेद हैं। इसप्रकार औपशमिक भाव दो प्रकार के हैं, क्षायिक भाव नौ प्रकार के हैं, मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिकभाव अठारह प्रकार के हैं,

औदयिक भाव इक्कीस प्रकार के हैं और पारिणामिकभाव तीन प्रकार के हैं।

इसप्रकार ये सभी मिलकर त्रेपन भाव हो गये; जो भाव मात्र जीवों में ही पाये जाते हैं; इसलिए ये जीव के स्वतत्त्व हैं, असाधारण भाव हैं ॥२॥

इन भावों का विश्लेषण आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं ह

“कर्मों का फलदानसामर्थ्यरूप से उद्भवरूप भाव उदय है, अनुद्भवरूप भाव उपशम है, उद्भव तथा अनुद्भवरूप भाव क्षयोपशम है, कर्म के अत्यन्त विश्लेष (वियोग) से उत्पन्न भाव क्षय है। द्रव्य का आत्मलाभ (अस्तित्व) जिसका हेतु है, वह परिणाम है।

वहाँ उदय से युक्त औदयिक, उपशम से युक्त औपशमिक, क्षयोपशम से युक्त क्षायोपशमिक, क्षय से युक्त क्षायिक और परिणाम से युक्त पारिणामिक भाव हैं।^१”

इन पाँच भावों का स्वरूप अकलंकदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“१. जिसप्रकार कतकफल या निर्मली के डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है; उसीप्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना उपशम है।

उपशम के लिए जो भाव होते हैं, वे औपशमिक भाव हैं।

२. जिस जल का मैल नीचे बैठा हो, उसे यदि दूसरे बर्तन में रख दिया जाये तो उसमें जिसप्रकार अत्यन्त निर्मलता होती है; उसीप्रकार आत्मा में कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति से जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है, वह क्षय है।

कर्मक्षय के लिए जो भाव होते हैं, वे क्षायिक भाव हैं।

३. जिसप्रकार कोदों को धोने से कुछ कोदों की मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण रहती है; उसीप्रकार परिणामों की

१. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की समयव्याख्या टीका का हिन्दी अनुवाद

निर्मलता से कर्मों के एकदेश का क्षय और एकदेश का उपशम होना मिश्र भाव है।

इस क्षयोपशम के लिए जो भाव होते हैं, उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

४. द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के निमित्त से कर्मों का फल देना उदय है।

उदयनिमित्तक भावों को औदयिक भाव कहते हैं।

५. जो भाव कर्मों के उपशमादिक की अपेक्षा न रखकर द्रव्य के निजस्वरूप मात्र से होते हैं, उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं।^१

इसप्रकार हम देखते हैं कि आरंभ के चार भाव कर्मोपाधि सापेक्ष हैं और अन्तिम पाँचवाँ पारिणामिक भाव पूर्णतः कर्मोपाधि निरपेक्ष है।

औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और औदयिक भाव हूँ ये चार भाव पर्यायरूप भाव हैं और पारिणामिक भाव द्रव्यरूप भाव हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार उदय और उपशम के मिश्रण को मिश्रभाव अर्थात् क्षयोपशम भाव कहा गया है और आचार्य अकलंकदेव के अनुसार क्षय और उपशम के मिश्रण को क्षयोपशम भाव कहा गया है। ऐसी स्थिति में वस्तुस्थिति क्या है ?

उत्तर हूँ यद्यपि क्षयोपशम पद क्षय+उपशम=क्षयोपशम हूँ इसप्रकार बना है। अतः इसमें क्षय और उपशम ही दिखाई देते हैं; तथापि वस्तुस्थिति यह है कि क्षयोपशम भाव में न तो असली क्षय है और न असली उपशम तथा उदय भी शामिल है ही।

मूलतः क्षयोपशम भाव की परिभाषा इसप्रकार है हूँ

“वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय (उदय के अभावरूप क्षय) और उन्हीं के आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर आत्मा

१. तत्त्वार्थवार्तिक के दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र के वार्तिक/भाष्य के संबंधित अंश का भावानुवाद

में जो भाव होता है; उसे क्षयोपशम (क्षायोपशमिक) भाव कहते हैं।^१”

इसप्रकार क्षयोपशम भाव में सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उनके ही आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्धकों के उदय का मिश्रण है।

कुछ लोग समझते हैं कि यह क्षयोपशम भाव; उपशम भाव से अच्छा होगा; क्योंकि इसमें उपशम के साथ क्षय भी शामिल है; पर ऐसा नहीं है।

ध्यान से देखो कि क्षयोपशम भाव में सर्वघाति स्पर्धकों का पूर्णतः क्षय नहीं है, मात्र उनका वर्तमान में उदय के अभावरूप क्षय है; क्योंकि वे स्पर्धक अभी सत्ता में विद्यमान हैं। इसीप्रकार उनका पूर्णतः उपशम भी नहीं हुआ है, अपितु उन सर्वघाति स्पर्धकों के आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम है, उसी स्थिति में ठहर जाने रूप उपशम हुआ है और देशघाति स्पर्धकों का तो उदय है ही। इसप्रकार यह क्षयोपशम भाव क्षय, उपशम और उदय का इसप्रकार का मिश्रण है।

प्रश्न हूँ आचार्य अमृतचन्द्र उदय और उपशम के मिश्रण को क्षयोपशम कहते हैं; जबकि क्षयोपशम शब्द में क्षय पद का स्पष्ट उल्लेख है; फिर भी उन्होंने क्षय की पूर्ण उपेक्षा की है हूँ क्या यह ठीक है ?

उत्तर हूँ भले ही क्षयोपशम पद में क्षय पद विद्यमान हो; तथापि क्षयोपशम भाव में सर्वघाति स्पर्धकों का क्षय (पूर्णतः अभाव) नहीं हुआ है, वर्तमान में उदय के अभावरूप क्षय हुआ है; भविष्य में उनका उदय हो सकता है। अतः अध्यात्म के पारगामी आचार्य अमृतचन्द्र ने क्षयोपशम पद में क्षय को शामिल नहीं किया।

यद्यपि वे सम्पूर्ण स्थिति से भलीभाँति परिचित हैं; तथापि उन्हें क्षायिक भाव और उपशम भाव से हल्के स्तर के क्षयोपशम भाव में उपशम और उदय भाव का मिश्रण ही अधिक दिखाई दिया; क्योंकि सर्वघाति प्रकृति का रंचमात्र भी क्षय नहीं हुआ है।

१. सर्वार्थसिद्धि : अध्याय २, सूत्र ५

प्रश्न हू आचार्य अकलंकदेव ने भी तो देशघाति के उदय की उपेक्षा की है। क्षय और उपशम के मिश्रण को ही क्षयोपशम भाव कहा है।

उत्तर हू हाँ, उपेक्षा तो की है; पर क्षयोपशम में देशघाति स्पर्धकों का उदय पूर्णतः प्रभावी नहीं है अर्थात् वह देशघाति का उदय जीव की स्वभाव पर्याय का घातक नहीं है, मात्र किञ्चित् दोष कारक है; अतः वह उपेक्षणीय ही है।

यही कारण है कि क्षयोपशम नाम में भी उदय की उपेक्षा हुई है।

सभी लोग यह बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि जिन कर्मों का क्षय हो जाता है, उनका अस्तित्व ही नहीं रहता; पर क्षयोपशम भाव में उदयाभावी क्षय होने पर भी उक्त कर्म का सत्ता में अस्तित्व बना रहता है, मात्र तत्समय में उदय के अभावरूप क्षय होता है। यह नाम मात्र का क्षय है; वस्तुतः यह क्षय है ही नहीं।

यही कारण है कि अमृतचन्द्र ने क्षयोपशम भाव में क्षय को शामिल नहीं किया।

इसीप्रकार उपशम भी तत्समय उदय में आनेवाले निषेकों का नहीं, आगामी काल में उदय में आनेवाले संभावित निषेकों का होता है।

वह भी असली उपशम नहीं, सदवस्थारूप उपशम होता है; पर देशघाति प्रकृति का उदय वास्तविक होता है।

इसप्रकार तत्संबंधी कर्मों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उन्हीं के आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर जो भाव होते हैं; उन्हें क्षयोपशम भाव कहते हैं।

अठारह प्रकार के क्षयोपशम भावों पर उक्त परिभाषा घटित करने में असुविधा प्रतीत हो तो तदर्थ पण्डित फूलचन्द के विशेषार्थ^१ को देखना चाहिए।

क्षयोपशम भाव में विशेष समझने की बात यह है कि इसमें सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी (उदय के अभावरूप) क्षय होता है और उनके

१. सर्वार्थसिद्धि का हिन्दी अनुवाद

आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्धकों का उदय रहता है।

अतः इसके अठारह भेदों में से प्रत्येक क्षयोपशमरूप भाव के सर्वघाति स्पर्धकों को, प्रकृतियों को और देशघाति स्पर्धकों, प्रकृतियों को जानना आवश्यक है; अन्यथा इन भावों का स्वरूप समझना शक्य नहीं होगा। उदाहरण के लिए क्षयोपशम सम्यक्त्व की घातक हू मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ हू ये छह प्रकृतियाँ सर्वघाति हैं और सम्यक्त्व प्रकृति देशघाति प्रकृति है।

इसप्रकार क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का स्वरूप इसप्रकार होगा हू

“मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन छह सर्वघाति प्रकृतियों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, इन्हीं छह प्रकृतियों के आगामी निषेकों का सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाति प्रकृति का उदय रहते श्रद्धागुण की जो निर्मल अवस्था होती है; उसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसीप्रकार अठारह क्षायोपशमिक भावों पर घटित करना होगा।

सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रन्थ का अनुवाद व संपादन करते हुए इस सूत्र की टीका के अनुवाद में विशेषार्थ लिखते हुए पण्डित फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री लिखते हैं हू

“पाँच भावों में प्रारम्भ के चार भाव निमित्त की प्रधानता से कहे गये हैं और अन्तिम भाव योग्यता (उपादान) की प्रधानता से।

जग में जितने कार्य होते हैं, उनका विभागीकरण इसी हिसाब से किया जाता है। कहीं निमित्त को प्रमुखता दी जाती है और कहीं योग्यता (उपादान) को; पर इससे अन्य वस्तु का कर्तृत्व अन्य में मानना उचित नहीं।

ऐसे विभागीकरण को दिखलाने का इतना ही प्रयोजन है कि जहाँ जिस कार्य का जो सुनिश्चित निमित्त हो, उसका परिज्ञान हो जावे।

यों तो कार्य अपनी योग्यता (उपादान) से होता है; किन्तु जिसका जिसके होने के साथ सुनिश्चित अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है, वह उसका सुनिश्चित निमित्त कहा जाता है।

इस हिसाब से विचार करने पर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार नैमित्तिक भाव कहलाते हैं ॥१-२॥^१

इन पाँचों भावों के संदर्भ में विशेष विचार आगामी पाँच सूत्रों में यथास्थान होगा ही; अतः यहाँ विशेष विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है ॥१-२॥

दो प्रकार के औपशमिक भाव इसप्रकार हैं ह

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ह्ये दो भेद औपशमिक भाव के हैं।

उपशम मात्र मोहनीय कर्म का होता है; शेष सात कर्मों का उपशम नहीं होता; इसलिए औपशमिक भाव भी मात्र दो प्रकार का ही होता है। दर्शनमोहनीय में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति तथा चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ ह्ये इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।

इसप्रकार औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र के भेद से औपशमिक भाव दो प्रकार का होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि और कभी-कभी सादि मिथ्यादृष्टि के भी मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ ह्ये इन पाँच प्रकृतियों के उपशम से भी औपशमिक सम्यक्त्व होता है; क्योंकि जिनके यह सम्यग्दर्शन होता है, उनके सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व नामक प्रकृति की सत्ता ही नहीं होती।

यह तो सर्वविदित ही है कि करणलब्धि के उपरान्त मिथ्यात्व प्रकृति के टुकड़े होने पर ही इन प्रकृतियों का जन्म होता है।

सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यक्चारित्र घटित होता है; इसलिए सूत्र में सम्यक्त्व पद पहले रखा गया है और चारित्र पद बाद में रखा गया है।

ये दोनों प्रकार के औपशमिक भाव ज्ञानी धर्मात्मा के ही होते हैं और इनका काल भी मात्र अन्तर्मुहूर्त ही है; इसकारण औपशमिक भाव वाले जीवों की संख्या सबसे कम होती है। यही कारण है कि उक्त पाँच भावों में औपशमिक भाव का उल्लेख आरंभ में किया गया है।

इनसे अधिक संख्या क्षायिक भाववालों की होती है; इसकारण

क्षायिकभाव का उल्लेख औपशमिक भाव के तत्काल बाद किया गया है। क्षायिक भाववालों में सभी अरहंत व सिद्ध तथा क्षपकश्रेणीवाले तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव आते हैं।

ये औपशमिक और क्षायिक भाव; सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवों के ही होते हैं; ये भाव धर्मभाव हैं; इसलिए भी इन्हें सबसे पहले रखा गया है ॥३॥

नौ प्रकार के क्षायिक भाव इसप्रकार हैं ह

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य हूँ ये सात तथा च शब्द से ग्रहण करने योग्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र हूँ ये दो हूँ इसप्रकार कुल मिलाकर नौ भेद क्षायिकभाव के हैं।

इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि तीसरे सूत्र में कहे गये सम्यक्त्व और चारित्र तथा ज्ञान, दर्शन, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य ये नौ भाव क्षायिक भाव हैं।

ये क्षायिक भाव पर्यायदृष्टि से सबसे महान हैं, प्राप्त करने योग्य हैं; प्राप्त करने की अपेक्षा से पूर्णतः उपादेय हैं।

इन क्षायिक भावों का स्वरूप तत्त्वार्थवार्तिक में इसी सूत्र की व्याख्या में आचार्य अकलंकदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“समग्र ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान और समग्र दर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन क्षायिक होते हैं।

समस्त दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों को अभय और अहिंसा का उपदेशरूप अनन्त दान क्षायिक दान है।

सम्पूर्ण लाभान्तराय का अत्यन्त क्षय होने पर कवलाहार न करनेवाले केवली को शरीर की स्थिति में कारणभूत परम शुभ दिव्य अनन्त पुद्गलों का प्रतिसमय शरीर में संबंधित होना क्षायिक लाभ है। अतः ‘कवलाहार के बिना कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक औदारिक शरीर की

स्थिति कैसे रह सकती है?’ यह शंका निराधार हो जाती है।

संपूर्ण भोगान्तराय के नाश से उत्पन्न होनेवाले सातिशय भोग क्षायिक भोग है। इसी से पुष्पवृष्टि, गन्धोदकवृष्टि, पदकमलरचना, सुगंधित शीत वायु आदि अतिशय होते हैं।

समस्त उपभोगान्तराय के नाश से उत्पन्न होनेवाला सातिशय उपभोग क्षायिक उपभोग है। इसी से सिंहासन, छत्रत्रय, चमर, अशोक वृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, देवदुन्दुभि आदि होते हैं।

समस्त वीर्यान्तराय के अत्यन्त क्षय से प्रकट होनेवाला अनन्त क्षायिक वीर्य है।

दर्शनमोह के क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन और चारित्रमोहनीय के क्षय से क्षायिक चारित्र होता है।

प्रश्न हूँ दानान्तराय आदि के क्षय से प्रकट होनेवाली दानादि लब्धियों के अभयदान आदि कार्य सिद्धों में भी होने चाहिए।

उत्तर हूँ नहीं; क्योंकि दानादि लब्धियों के कार्य के लिए शरीर नामकर्म और तीर्थंकर प्रकृति के उदय की भी अपेक्षा है। सिद्धों में ये लब्धियाँ अव्याबाध अनन्त सुखरूप से रहती हैं। जैसे कि केवलज्ञानरूप में अनन्तवीर्य।^१”

इसीप्रकार का भाव आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि शास्त्र में भी व्यक्त किया गया है।

ये सभी क्षायिक भाव एक बार उत्पन्न होने के बाद अनन्तकाल तक रहते हैं; इनका अभाव कभी भी नहीं होता।

यद्यपि ये भाव पर्यायरूप हैं; अतः प्रतिसमय बदलना इनका सहज स्वभाव है; इसलिए इनकी स्थिति भी एक समय की ही है; तथापि ये सन्तति की दृष्टि से अनन्तकाल तक एक से ही रहते हैं। केवलज्ञान कभी भी अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञानरूप नहीं होता। अतः सन्तति की अपेक्षा इन्हें सादि-अनंत ही कहा जाता है ॥४॥

१. तत्त्वार्थवार्तिक, हिन्दी सार, पृष्ठ ३४०

अठारह प्रकार के क्षायोपशमिक भाव इसप्रकार हैं ह

**ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-
चारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥**

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ह्व ये अठारह क्षायोपशमिक भाव हैं।

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ह्व ये चार ज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ह्व ये तीन अज्ञान हैं; तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन ह्व ये तीन दर्शन हैं; दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ह्व ये पाँच लब्धियाँ हैं।

४ ज्ञान, ३ अज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धियाँ ह्व इसप्रकार $४+३+३+५=१५$ और सम्यक्त्व, चारित्र व संयमासंयम ह्व इसप्रकार १८ भेद क्षायोपशमिक भाव के हैं।

चार प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान, तीन प्रकार के अज्ञान व तीन प्रकार के दर्शन की परिभाषा प्रथम अध्याय में स्पष्ट की जा चुकी है।

पाँच लब्धियों की चर्चा क्षायिक भाव के प्रकरण में हुई है। इतना अन्तर समझना चाहिए कि क्षायिक भाव में अन्तराय के क्षय से होनेवाली लब्धियाँ हैं और यहाँ क्षयोपशम भाव के प्रकरण में अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाली लब्धियों की बात है।

ये अठारह प्रकार के भाव ज्ञानी-अज्ञानी ह्व सभी छद्मस्थ जीवों के होते हैं। इसका आशय यह नहीं है कि सभी भाव सभी छद्मस्थों के होते हैं। तात्पर्य यह है कि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान ज्ञानियों के होते हैं और कुमति, कुश्रुत और कुअवधि अज्ञानियों के होते हैं। इसीप्रकार अन्य भावों के संदर्भ में भी समझ लेना चाहिए।

ज्ञानी-अज्ञानी सभी छद्मस्थों के होने से क्षयोपशम भाववालों की संख्या क्षायिक भाववालों से अधिक है। इसलिए इसे सूत्र में तीसरा स्थान प्राप्त हुआ है।

इनसे भी अधिक संख्या औदयिक भाववालों की है; क्योंकि वे चौदह गुणस्थानवाले सभी संसारी जीवों के पाये जाते हैं। इसलिए औदयिक भाववालों को चौथा स्थान प्राप्त हुआ है।

पारिणामिक भाव सभी जीवों के होने के कारण सर्वाधिक संख्या वाला है; अतः उसे पंचम स्थान प्राप्त हुआ है, अन्तिम स्थान प्राप्त हुआ है।

इसप्रकार पहले सूत्र के क्रम में पाँचों भावों को जो स्थान प्राप्त हुआ है, उसमें संख्या का एक मुख्य स्थान है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि ह

१. पारिणामिक भाव के बिना कोई जीव नहीं है।

२. औदयिक भाव के बिना कोई संसारी जीव नहीं है।

३. क्षायोपशमिक भाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं है।

४. क्षायिक भाव के बिना क्षायिक समकिती, क्षायिक चारित्रवंत और अरहंत तथा सिद्ध नहीं हैं ॥५॥

इक्कीस औदयिक भावों के नाम क्रमशः इसप्रकार हैं ह

**गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या-
श्चतुश्चतुस्त्र्यैकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥**

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्यायें ह्व ये इक्कीस भाव औदयिक भाव हैं।

नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति व देवगति ह्व ये चार गतियाँ; क्रोध, मान, माया, लोभ ह्व ये चार कषायें; स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसक लिंग ह्व ये तीन लिंग; मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र, असिद्धत्व और कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल ह्व ये छह लेश्यायें ह्व इसप्रकार इक्कीस प्रकार के ये औदयिकभाव हैं।

इन २१ औदयिक भावों का सामान्य स्वरूप तत्त्वार्थवार्तिक में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह

“जिस कर्म के उदय से आत्मा नारक आदि भावों को प्राप्त हो, वह गति है।

कषाय नामक चारित्रमोह के उदय से होनेवाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है। यह आत्मा के स्वाभाविक रूप को कष देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है।

द्रव्य और भाव के भेद से लिंग दो प्रकार का है। चूँकि आत्म भावों का प्रकरण है, अतः नामकर्म के उदय से होनेवाले द्रव्यलिंग की यहाँ विवक्षा नहीं है। स्त्रीवेद के उदय से होनेवाली पुरुषाभिलाषारूप भाव स्त्रीवेद है, पुरुषवेद के उदय से होनेवाली स्त्री-अभिलाषारूप भाव पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से होनेवाली उभयाभिलाषारूप भाव नपुंसकवेद है।

दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ में अरुचि या अश्रद्धानरूप भाव मिथ्यात्व कहलाता है।

जिसप्रकार प्रकाशमान सूर्य का तेज सघन मेघों द्वारा तिरोहित हो जाता है, उसीतरह ज्ञानावरण के उदय से ज्ञानस्वरूप आत्मा के ज्ञान गुण की अनभिव्यक्तिरूप भाव अज्ञान है।

चारित्रमोह के उदय से होनेवाली हिंसादि और इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्तिरूप भाव असंयम है।

अनादि से कर्मबद्ध आत्मा के सामान्यतः सभी कर्मों के उदय से असिद्ध पर्याय होती है।

कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप भाव लेश्या है। द्रव्य लेश्या पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होती है; अतः आत्मभावों के प्रकरण में उसका ग्रहण नहीं किया है। यद्यपि योगप्रवृत्ति, आत्मप्रदेशों की परिस्पन्दरूप होने से क्षायोपशमिक वीर्यलब्धि में अन्तर्भूत हो जाती है और कषाय औदयिकी होती है फिर भी कषायोदय के तीव्र-मन्द आदि तारतम्य से अनुरंजित प्रवृत्तिरूप लेश्या पृथक् ही है।

यद्यपि उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानों में कषाय का उदय नहीं है, फिर भी वहाँ भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा शुक्ल लेश्या उपचार से कही है।

मिथ्यादर्शन में दर्शनावरण के उदय से होनेवाले अदर्शन का अन्तर्भाव हो जाता है। यद्यपि मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थ के श्रद्धानरूप भाव है, फिर भी अदर्शन सामान्य में दर्शनाभावरूप से दोनों प्रकार के दर्शनों का अभाव ले लिया जाता है।^१”

ये २१ औदयिक भाव त्यागने योग्य हैं ॥६॥

पारिणामिक भावों के भेद क्रमशः इसप्रकार हैं ह

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ह्ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

इन भावों का स्वरूप तत्त्वार्थवार्तिक में इसप्रकार स्पष्ट किया गया हैह

“कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखनेवाले मात्र द्रव्य की स्वभावभूत अनादि पारिणामिकी शक्ति से ही आविर्भूत ये भाव पारिणामिक हैं।

अनादि पारिणामिक जीवद्रव्य का निज परिणाम ही जीवत्व है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर्याय जिसकी प्रकट होगी, वह भव्य है और जिसके प्रकट न होगी वह अभव्य। द्रव्य की शक्ति से ही यह भेद है। उस भव्य को जो अनन्तकाल में भी सिद्ध नहीं होगा, अभव्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें भव्यत्वशक्ति है।^२”

इसप्रकार २+९+१८+२१+३=५३ ह्ये त्रेपन प्रकार के भाव जीव के स्वतत्त्व हैं, असाधारण भाव हैं; जो मात्र जीवों में ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं।

अघातिया कर्मों का न तो उपशम होता है और न क्षयोपशम। उनकी तो मात्र दो दशायें होती हैं या तो उनका उदय होता है या क्षय।

१. तत्त्वार्थवार्तिक, हिन्दी सार, पृष्ठ ३४२-३४३

२. वही, पृष्ठ ३४३

उनका उदय होने पर औदयिक भाव होते हैं और क्षय होने पर क्षायिक भाव होते हैं।

घातिया कर्मों में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय ह इन तीन कर्मों की तीन दशायें होती हैं ह उदय, क्षय और क्षयोपशम। इसलिए इनके निमित्त से तीन प्रकार के भाव होते हैं ह औदयिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव।

एक मात्र मोहनीय कर्म ऐसा है कि जिसकी चार दशायें होती हैं ह उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय। इसलिए मोहनीय कर्म के निमित्त से चार प्रकार के भाव होते हैं ह औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव।

पारिणामिकभाव किसी कर्म के निमित्त से नहीं होते। वे तो आत्मा के स्वभावभाव हैं। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं ह उपशम मात्र मोहनीय कर्म का होता है; क्षयोपशम चार घातिया कर्मों का होता है, क्षय और उदय आठों कर्मों का होता है।

१. औपशमिक भाव सादि-सान्त हैं।
२. क्षायिक भाव सादि-अनंत हैं।
३. क्षायोपशमिक भाव भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त हैं और अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त हैं।
४. औदयिक भाव भी भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त हैं और अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अनंत हैं।
५. पारिणामिक भाव अनादि-अनंत हैं।

औपशमिक भाव प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय हैं, क्षायिक भाव प्रगट करने की अपेक्षा सकलदेश उपादेय हैं।

अज्ञानी के क्षायोपशमिक भाव हेय हैं और ज्ञानी के एकदेश उपादेय हैं। औदयिक भाव पूर्णतः हेय हैं तथा भव्यत्व-अभव्यत्वरूप पारिणामिक भाव ज्ञेय हैं और जीवत्वरूप अपना परमपारिणामिक भाव श्रद्धेय हैं, परमज्ञेय हैं और ध्येय हैं। परमपारिणामिकभावरूप ही

में हूँ। इस भाव के आश्रय से ही धर्म होता है।

जब यह आत्मा स्वयं के जीवत्वरूप परमपारिणामिक भाव को जानता है, पहिचानता है, उसमें अपनापन स्थापित करता है, उसका श्रद्धान करता है और सम्यग्ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक उसी में जम जाता है, रम जाता है, समा जाता है, उसी के ध्यान में मग्न हो जाता है; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमित होता है; औपशमिक, क्षायिक और सम्यक् क्षायोपशमिक भावरूप परिणमता है तो सम्पूर्ण औदयिक भावों का अभाव कर देता है, संसार से मुक्त हो जाता है, सिद्धदशारूप परिणमित होकर अनन्तकाल तक अनन्त सुख का उपभोग करता है।

उक्त ५२ भावों के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रकट नहीं होते; एकमात्र परमपारिणामिकभाव के आश्रय से ही रत्नत्रयरूप धर्म प्रगट होता है। अतः एक मात्र आश्रय करने योग्य परम उपादेय यही ५३वाँ भाव है।

अतः जिन भव्य जीवों को अनन्तकाल तक के लिए अनन्त सुखरूप परिणमित होना है, अनन्त सुखी होना है, मुक्त दशा प्राप्त करना है, मोक्ष में जाना है; वे भव्य जीव परमपारिणामिक भावरूप निज भगवान आत्मा का आश्रय करें, उसी को जाने, निजरूप जाने, निजरूप माने, उसी में अपनापन स्थापित करें, उसी में जम जाये, रम जाये, समा जाये और अनन्तकाल तक अनन्तसुख का उपभोग करें।

वस्तुतः निश्चय से स्वतत्त्व तो परमपारिणामिकभाव ही है; शेष ५२ भाव व्यवहार से स्वतत्त्व हैं।।७।। ●

जीवतत्त्वार्थ का लक्षण व भेद-प्रभेद

जीव तत्त्वार्थ की चर्चा चल रही है। जीव के ५३ असाधारण भावों की चर्चा के उपरान्त अब आत्मतत्त्व की पहिचान के लिए जीवतत्त्वार्थ के लक्षण पर विचार करते हैं।

जीव के लक्षण के संदर्भ में दो सूत्र प्राप्त होते हैं; जो इसप्रकार हैं ह
उपयोगो लक्षणम् ॥८॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का लक्षण है ॥८॥

वह उपयोग दो प्रकार का है ह ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है ॥९॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ह ये पाँच ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ह ये तीन अज्ञान (मिथ्याज्ञान) इसप्रकार ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है।

इसीप्रकार चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ह ये चार दर्शन दर्शनोपयोग के प्रकार हैं।

चक्षु इन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह चक्षुदर्शन है; चक्षु को छोड़कर अन्य चार इन्द्रियों और मन से होनेवाले ज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह अचक्षुदर्शन है; अवधिज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह अवधिदर्शन है और केवलज्ञान के साथ जो दर्शन होता है, वह केवलदर्शन है।

ध्यान रहे चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन तो ज्ञान होने के पहले होते हैं, पर केवलदर्शन केवलज्ञान के साथ ही होता है।

इसी बात को द्रव्यसंग्रह में इसप्रकार व्यक्त किया गया है ह

अट्ट चटु गाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।

ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं गाणं ॥६॥

व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को सामान्यरूप से जीव का लक्षण कहा गया है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध ज्ञान-दर्शन जीव के लक्षण कहे हैं।

इस गाथा के अर्थ में ब्रह्मदेव द्वारा रचित संस्कृत टीका में कहा गया है कि यहाँ सामान्य शब्द का अर्थ विवक्षा का अभाव है।

तात्पर्य यह है कि यहाँ सम्यक्-मिथ्या का भेद नहीं है, संसारी-मुक्त का भेद नहीं है।

सम्यक्-मिथ्या के भेद बिना सामान्य उपयोग सभी जीवों का लक्षण है, चाहे वे संसारी जीव हों या मुक्त जीव हों, चाहे ज्ञानी हों, चाहे अज्ञानी हों। इस लक्षण में निगोद से लेकर मोक्ष तक के सभी जीव समाहित हैं।

ध्यान रहे ज्ञान में तो सम्यक्-मिथ्या के भेद होते हैं; पर दर्शन में सम्यक्-मिथ्या का भेद नहीं होता; क्योंकि दर्शनोपयोग निराकार है। कहा भी गया है कि निराकारं दर्शनं, साकारं ज्ञानं ह दर्शनोपयोग निराकार होता है, निर्विकल्प होता है और ज्ञान साकार अर्थात् सविकल्प होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में मात्र उपयोग को जीव का लक्षण कहा और फिर उसके बाद अगले सूत्र में उपयोग के भेद गिनाये। कहा कि वह उपयोग दो प्रकार का है तथा उक्त दो प्रकारों में पहले के आठ भेद हैं और दूसरे के चार भेद हैं।

पहला कौन और दूसरा कौन ? इसप्रकार का प्रश्न होने पर सूत्र से ही स्पष्ट हो जाता है कि जिसके आठ भेद हैं, वह पहला कहा और जिसके चार भेद हैं, वह दूसरा है। तात्पर्य यह है कि आठ भेदवाला ज्ञान पहला और चार भेदवाला दर्शन दूसरा है।

जबकि द्रव्यसंग्रह में सीधा ही कह दिया कि आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन सामान्य से जीव का लक्षण है ह यह व्यवहारनय का कथन है; परन्तु शुद्धनय से शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञान जीव का लक्षण है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका में उक्त नय विवक्षा को विस्तार से स्पष्ट किया है, जिन्हें विशेष जानने की इच्छा हो, वे वहाँ से देखें।

यद्यपि द्रव्यसंग्रह और उसकी टीका में सारी विवक्षायें स्पष्ट की हैं; तथापि तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य से उपयोग को ही जीव का लक्षण कहा है; उसमें उन्होंने कोई नय विवक्षा नहीं लगाई और अगले सूत्र में उपयोग के भेद-प्रभेद गिनाकर यह स्पष्ट कर दिया कि उक्त आठों प्रकार के ज्ञानों और चार प्रकार के दर्शनों में कोई भी ज्ञान या दर्शन क्यों न हो, जिसमें एक भी ज्ञान-दर्शन है, वह जीव है।

यहाँ जीव शब्द में सामान्य से सभी जीव आ गये और उपयोग शब्द में सभी उपयोग आ गये।

जीव होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उसे आठ ज्ञानों में कौन सा ज्ञान हो और कौन सा दर्शन। यह बताने के लिए ही यह कहा है कि सामान्य ज्ञान और सामान्य दर्शन जीव का लक्षण है।

जो विवक्षित वस्तु को अन्य वस्तुओं से जुदा करे, उसे लक्षण कहते हैं।

लक्षण दो प्रकार के होते हैं ह आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण। उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है; क्योंकि उष्णता अग्नि से कभी पृथक् नहीं होती। दण्डेवाले पुरुष को दण्डी कहते हैं। दण्डी पुरुष का दण्डा लक्षण अनात्मभूत है; वह उससे कभी भी पृथक् हो सकता है। यह अनात्मभूत लक्षण मात्र तत्काल का प्रयोजन सिद्ध करता है; आत्मभूत लक्षण सदा काम आता है। उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है; वह जीव की सदाकाल रहनेवाली पहिचान है। वह जीव में सदाकाल तो रहता ही है; साथ ही अन्य अजीव वस्तुओं में नहीं पाया जाता। अतः वह पूर्णतः निर्दोष लक्षण है; क्योंकि इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव ह इनमें से कोई भी दोष नहीं है।

सच्चे लक्षण के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह लक्ष्य में व्याप्त हो, अलक्ष्य में न हो और वह लक्ष्य में संभव हो, असंभव न हो।

जीव का उपयोग लक्षण लक्ष्य में व्याप्त है, अलक्ष्य में नहीं है और लक्ष्य जीव में उसकी संभावना पूरी तरह है।

उपयोग सभी जीवों में प्राप्त होता है; अतः अव्याप्ति दोष से रहित है, जीवों के अतिरिक्त अजीवों में नहीं पाया जाता; अतः यह अतिव्याप्ति दोष से रहित है और सभी जीवों में उपयोग होता ही है; अतः असंभव दोष से भी दूषित नहीं है।

प्रश्न ह स्वरूप और लक्षण में क्या अन्तर है ?

उत्तर ह प्रत्येक पदार्थ के गुण और पर्यायों, उसका स्वरूप हैं और जिससे पदार्थों की पहिचान की जा सके, उसे लक्षण कहते हैं ॥८-९॥

जीव तत्त्वार्थ को जानने के लिए उपयोग को जीव का लक्षण बताया और फिर उपयोग के भेद-प्रभेद समझाये। अब उपयोग लक्षण से लक्षित उपयोगवान जीवों के भेद-प्रभेद बतलाते हैं; जो इसप्रकार हैं ह

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

जीव दो प्रकार के हैं ह संसारी और मुक्त।

उपयोग लक्षण से लक्षित पहले से चौदहवें गुणस्थान तक के सभी जीव संसारी हैं और गुणस्थानों से पार सिद्ध जीवों को मुक्त जीव कहते हैं ॥१०॥

अब यहाँ संसारी जीवों के भेद बताते हैं; जो इसप्रकार हैं ह

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥ संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

उनमें से संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं ह समनस्क और अमनस्क ॥११॥

सैनी-असैनी के साथ-साथ संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से भी दो प्रकार के होते हैं ॥१२॥

मन सहित जीवों को समनस्क और मन रहित जीवों को अमनस्क कहते हैं। समनस्क जीवों को संज्ञी और सैनी तथा अमनस्क जीवों को असंज्ञी और असैनी भी कहते हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर चौथी इन्द्रिय तक के सर्व जीव और असैनी पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी हैं, अमनस्क हैं तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी या समनस्क हैं।

एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव नियम से तिर्य्यच ही होते हैं और सैनी पंचेन्द्रिय जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं।

सैनी-असैनी और त्रस-स्थावर ह्व ये भेद संसारी जीवों के हैं ह्व यह बताने के लिए ही दोनों के बीच में **संसारिणः** पद डाला गया है।

यह देहरी के दीपक जैसा प्रयोग है। जिसप्रकार देहरी पर रखा गया दीपक कमरे में भी उजेला करता है और आँगन में भी।

उसीप्रकार यह **संसारिणः** पद भी देहरी का दीपक है। यह सैनी-असैनी पर भी लगता है और त्रस-स्थावर पर भी।

इसे मध्य दीपक भी कहते हैं।

यदि ऐसा नहीं करते तो क्रमानुसार के नियम के अनुसार यह भी समझा जा सकता था कि सैनी-असैनी ये भेद तो संसारी जीवों के हैं और त्रस-स्थावर भेद मुक्त जीवों के हैं। ११-१२॥

विगत सूत्र में संसारी जीवों के त्रस और स्थावर ह्व इसप्रकार के दो भेद बताये हैं; अतः अब यहाँ सबसे पहले स्थावर जीवों के बारे में समझाते हैं।

पृथिव्यग्नेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ह्व ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं, एकेन्द्रिय जीव हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को ही स्थावर जीव कहते हैं।

ये पृथिवी आदि पाँचों स्थावर जीवों के आगम में चार-चार प्रकार

बताये हैं; जो इसप्रकार हैं ह्व पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव।

१. जो स्वयं ही बनी हुई अचेतन जमीन है, उसे पृथिवी कहते हैं।

२. जिस पृथिवी में से जीव निकल गया तो उसे पृथिवीकाय कहते हैं।

३. जीव सहित पृथिवी को पृथिवीकायिक कहते हैं।

४. जो जीव पहले शरीर को छोड़कर पृथिवीकाय में जन्म लेने के लिए जा रहा है, जब तक वह पृथिवी को अपने शरीररूप से ग्रहण नहीं कर लेता, तबतक उस जीव को पृथिवी जीव कहते हैं।

यहाँ जिसप्रकार चार भेदों को पृथिवी पर घटित किया है; उसीप्रकार वनस्पति पर भी घटित करते हैं।

१. जो निर्जीव वनस्पति है, वह वनस्पति। जैसे लकड़ी और लकड़ी से बनी हुई वस्तुएँ।

२. जिस वनस्पति में से अभी-अभी आज ही जीव निकल गया, वह वनस्पतिकाय है।

३. जिस वनस्पति में अभी भी जीव विद्यमान है, उसे वनस्पतिकायिक कहते हैं।

४. जो जीव पहले शरीर को छोड़कर वनस्पतिकाय में जन्म लेने जा रहा है; जबतक वह वनस्पति को अपने शरीर में ग्रहण नहीं कर लेता, तबतक वह वनस्पति जीव है।

यह जान लेने का लाभ यह है कि असल में सजीव वनस्पति तो वनस्पतिकायिक ही है; अतः अहिंसाव्रत की दृष्टि से एकमात्र यही अभक्ष्य है। शेष वनस्पति, वनस्पतिकाय और वनस्पतिजीव अभक्ष्य नहीं है; क्योंकि ये सभी तो अजीव हैं, अचेतन हैं।

इसीप्रकार पृथिवी, अप् (जल), तेज और वायु के बारे में भी समझ लेना चाहिए ॥१३॥

अब त्रस जीवों के बारे में समझाते हैं।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

दो इन्द्रिय आदि जीव त्रस जीव हैं।

तात्पर्य यह है कि दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं चारों गतियों के पंचेन्द्रिय जीव हूँ ये सभी त्रस जीव हैं।

ध्यान रहे दो इन्द्रिय से अरहंत भगवान तक, तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान तक, जबतक कि वे सिद्ध नहीं हो जाते; तबतक सभी संसारी जीव त्रस जीव हैं।

जब हम यह कहते हैं कि अरहंत भी संसारी जीव है तो लोगों को बहुत आश्चर्य लगता है कि अरहंत भी संसारी ?

अरे, भाई ! जब हमने समस्त जीवों को दो भागों में बांटा है और एक भाग में सिद्धों को रखा है तो दूसरे भाग में संसार के शेष सभी सहज ही आ गये। इसमें अधिक सोचने की बात ही क्या है ? ॥१४॥

पाँच इन्द्रियाँ और उनके भेद-प्रभेद

त्रस जीवों की परिभाषा में दो इन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा गया है तो सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन्द्रियाँ कितनी होती हैं।

उक्त प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है; जो इसप्रकार है ह

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

इन्द्रियाँ पाँच होती हैं।

इन्द्रियों के नाम तो आगे सूत्र द्वारा पृथक् से बताये जायेंगे। यहाँ तो बस इतना बताना इष्ट है कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं, कम-ज्यादा नहीं।

संसारी जीव की पहिचान के चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं।

जैनेतर दर्शनों में वचन, हाथ, पैर, गुदा और लिंग को भी इन्द्रिय कहा जाता है। परन्तु ये कर्मेन्द्रियाँ हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं; चूँकि यहाँ ज्ञान का प्रकरण है; अतः यहाँ इन्द्रियों के रूप में ज्ञानेन्द्रिय को ही लिया है, कर्मेन्द्रियों को नहीं ॥१५॥

उक्त पाँच इन्द्रियाँ भी दो प्रकार की होती हैं हूँ यह बात आगामी सूत्र में बताई गई है; जो इसप्रकार है ह

द्विविधानि ॥१६॥

वे पाँचों इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की हैं हूँ द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ।

तात्पर्य यह है कि इन द्रव्य और भाव के भेदों को पाँचों इन्द्रियों पर घटित करना चाहिए। जैसे हूँ द्रव्य स्पर्शन इन्द्रिय और भाव स्पर्शन इन्द्रिय, द्रव्य रसना इन्द्रिय और भाव रसना इन्द्रिय, द्रव्य घ्राण इन्द्रिय और भाव घ्राण इन्द्रिय, द्रव्य चक्षु इन्द्रिय और भाव चक्षु इन्द्रिय तथा द्रव्य श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रिय और भाव श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रिय।

इन्द्रियाकार पुद्गल और आत्मप्रदेशों की रचना द्रव्येन्द्रिय है तथा क्षयोपशम विशेष से होनेवाला आत्मा का ज्ञान-दर्शनरूप परिणाम भावेन्द्रिय है ॥१६॥

अब आगामी दो सूत्रों में उक्त इन्द्रियों के भी भेद बताते हैं, उक्त दो सूत्रों में पहला सूत्र इसप्रकार है ह

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

द्रव्येन्द्रियाँ निर्वृत्ति और उपकरण रूप हैं ।

नामकर्म से जिसकी रचना हो, उसे निर्वृत्ति कहते हैं। बाह्य निर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति के भेद से निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है।

आत्मप्रदेशों की चक्षु आदि इन्द्रिय के आकाररूप रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है और शरीर पुद्गलों की इन्द्रियों के आकाररूप रचना होना बाह्य निर्वृत्ति है।

जो निर्वृत्ति का उपकार करे, वह उपकरण है।

वह उपकरण भी निर्वृत्ति के समान दो प्रकार का होता है ह आभ्यन्तर उपकरण और बाह्य उपकरण।

जिसप्रकार चक्षु इन्द्रिय में जो काला व सफेद मण्डल (गटा) है; वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं।

इसीप्रकार अन्य इन्द्रियों पर भी समझ लेना चाहिए ॥१७॥

द्रव्य इन्द्रिय की चर्चा होने के उपरान्त अब भाव इन्द्रिय की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; जो इसप्रकार है ह

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोगरूप है ।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं और लब्धि के अनुसार आत्मा का जो परिणाम होता है, उसे उपयोग कहते हैं।

ये लब्धि और उपयोग ही भावेन्द्रिय हैं ॥१८॥

इन्द्रियाँ, उनके विषय और स्वामी

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थः ॥२०॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ह ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ह ये क्रम से उन पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं ।

तात्पर्य यह है कि स्पर्श, स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है; रस, रसनेन्द्रिय का विषय है; गंध, घ्राण इन्द्रिय का विषय है; वर्ण, चक्षु इन्द्रिय का विषय है और शब्द, कर्ण इन्द्रिय का विषय है।

स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श आठ प्रकार का है ह शीत-उष्ण, रूखा-चिकना, कोमल-कठोर और हल्का-भारी।

रसना इन्द्रिय का विषय रस पाँच प्रकार का है ह खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और चरपरा।

घ्राण इन्द्रिय का विषय गंध दो प्रकार की है ह सुगन्ध और दुर्गन्ध। चक्षु इन्द्रिय का विषय वर्ण पाँच प्रकार का है ह काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

कर्ण इन्द्रिय का विषय शब्द सात प्रकार के हैं ह षट्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, दैवत और निषाद।

इसप्रकार ये सब पंचेन्द्रिय के विषय २७ प्रकार के हैं।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती है। न तो कोई इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करती है और न ग्रहण कर सकती है।

प्रत्येक इन्द्रिय का अपने-अपने विषय में इन्द्रवत् व्यवहार है; वह अपने विषय में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ कार्य करती है, उसमें किसी

अन्य इन्द्रिय का कोई हस्तक्षेप नहीं होता; इसीलिए उसे इन्द्रिय कहते हैं ॥१९-२०॥

पाँच इन्द्रियों के विषय बताये; अतः अब मन के विषय के संबंध में चर्चा प्रसंग प्राप्त है ह

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुत, मन का विषय है ।

श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ को श्रुत कहते हैं; वह श्रुत अनिन्द्रिय अर्थात् मन का विषय है । श्रुतज्ञान का होना मन का प्रमुख कार्य है । अपने इस कार्य में वह किसी इन्द्रिय की सहायता नहीं लेता ।

ध्यान रहे श्रोत्रेन्द्रियजन्य ज्ञान को या श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को श्रुत नहीं कह सकते; क्योंकि वह इन्द्रियजन्य होने से मतिज्ञान ही है ।

मतिज्ञान के बाद जो विचार केवल मनजन्य होता है, वह श्रुतज्ञान है ॥२१॥

इन्द्रियों के विषय की चर्चा के उपरान्त अब इन्द्रियों के स्वामियों की बात करते हैं । तत्संबंधी प्रथम सूत्र इसप्रकार है ह

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

वनस्पति है अन्त में जिनके, ऐसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों के एक इन्द्रिय होती है ।

तात्पर्य यह है कि पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों के एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है ।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि पाँच प्रकार के स्थावर जीवों के मात्र स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।

इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि एक स्पर्शन इन्द्रिय के स्वामी पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं ॥२२॥

एक स्पर्शन इन्द्रिय के स्वामियों की चर्चा के उपरान्त अब द्वीन्द्रियादि के स्वामियों की चर्चा करते हैं ह

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्यादि के क्रमशः एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है ।

तात्पर्य यह है कि कृमि, लट, शंख, जोंक आदि के स्पर्शन और रसना हू ये दो इन्द्रियाँ होती हैं; पिपीलिका माने चींटी, खटमल आदि के स्पर्शन, रसना और घ्राण हू ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं; भौरा, मक्खी, मच्छर आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु हू ये चार इन्द्रियाँ होती हैं; और मनुष्य, देव, नारकी एवं पंचेन्द्रिय तिर्यचों के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं ॥२३॥

अब संज्ञी जीव का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं ।

मन सहित जीवों को संज्ञी और मन रहित जीवों को असंज्ञी कहते हैं । एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के सभी जीव नियम से असंज्ञी और तिर्यच होते हैं ।

पंचेन्द्रिय तिर्यचों में संज्ञी भी होते हैं और असंज्ञी भी होते हैं । मनुष्य, देव और नारकी नियम से संज्ञी ही होते हैं ।

इसप्रकार संज्ञी जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं ॥२४॥

एक गति से अन्य गति में जाने के नियम

जब यह जीव एक देह छोड़कर अन्य देह को धारण करता है तो कैसे करता है ह्व इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं ह्व

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

विग्रहगति में कर्मयोग होता है ।

विग्रह का अर्थ है शरीर । आगामी शरीर के लिए जो गति अर्थात् गमन, उसका नाम है विग्रहगति । एक गति को छोड़कर अगली गति में जब जीव जाता है; तब पुरानी गति तो छोड़ दी और अभी नई गति में पहुँचा नहीं; उन दोनों के बीच का जो समय है, उसे विग्रहगति कहते हैं । उस विग्रहगति में जीव के साथ कर्म अर्थात् कार्माणशरीर तो रहता है, पर नोकर्म अर्थात् यह औदारिकादि शरीर नहीं रहते ।

तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था में कर्म का ग्रहण होने पर भी नोकर्म का ग्रहण नहीं होता, वह विग्रह है । इस विग्रह के लिए होनेवाली गति को विग्रहगति कहते हैं।^१

कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं और आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं । आत्मप्रदेशों के इस परिस्पन्दन को कार्माणशरीर निमित्तरूप है; इसलिए उसे कर्मयोग या कार्माण कर्मयोग कहते हैं । इसप्रकार हम देखते हैं कि विग्रह गति में भी नये कर्मों का आस्रव होता है ।

मूल मुद्दे की बात यह है कि पहले बँधे हुए कर्म तो अगले भव में जीव के साथ जाते हैं; पर नोकर्म अर्थात् शरीर साथ नहीं जाता ।

जब शरीर नहीं जाता तो फिर माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद आदि कैसे जा सकते हैं? ॥२५॥

जब एक शरीर से अन्य शरीर में यह जीव जाता है तो उसका रास्ता

क्या होता है, कैसा होता है ? ह्व इस प्रश्न के उत्तर में अगला सूत्र लिखा गया है, जो इसप्रकार है ह्व

अनुश्रेणिः गतिः ॥२६॥

गति श्रेणी के अनुसार होती है ।

लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रम से स्थित आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं ।

मरण के समय जब जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं; तब उनकी गति अनुश्रेणी अर्थात् श्रेणी के अनुसार ही होती है ।

पुद्गल का शुद्ध परमाणु भी जब एक समय में चौदह राजु गमन करता है, तब वह भी श्रेणी के अनुसार ही गमन करता है ।

उपर्युक्त श्रेणी की छह दशायेँ होती हैं ह्व

१. पूर्व से पश्चिम २. उत्तर से दक्षिण तथा ३. ऊपर से नीचे ।

अन्य तीन इनसे उल्टी ४. पश्चिम से पूर्व, ५. दक्षिण से उत्तर और ६. नीचे से ऊपर ।

तात्पर्य यह है कि विग्रहगति में जीवों का गमन श्रेणी के अनुसार ही होता है ॥२६॥

गति का नियम और समय

गति, श्रेणी के अनुसार तो होती है; पर वह गति कैसी होती है, उसमें कितना समय (काल) लगता है इत्यादि के उत्तर में आगे चार सूत्र दिये गये हैं। उनमें से प्रथम दो सूत्र इसप्रकार हैं ह

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

जीव की गति अविग्रह अर्थात् मोड़ा रहित होती है।

संसारी जीवों की गति विग्रहवाली भी होती है; पर विग्रहवाली गति तीन मोड़ों से अधिक मोड़ोंवाली नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि संसारी और मुक्त हूँ सभी जीवों की गति अविग्रह तो होती ही है; पर संसारी जीवों की गति विग्रहवाली भी होती है।

कुछ संसारी जीवों को एक देह को छोड़कर अन्य देह में पहुँचने के लिए मोड़े लेने पड़ते हैं; परन्तु तीन मोड़े से अधिक मोड़े किसी को भी नहीं लेने पड़ते।

मुक्त जीव तो अन्तिम देह छोड़कर बिना मोड़ा लिये एकदम सीधे चले जाते हैं; परन्तु संसारी जीवों में कुछ संसारी जीव भी बिना मोड़ा के सीधे चले जाते हैं, पर कुछ जीव एक मोड़ा लेते हैं, कुछ दो मोड़ा लेते हैं और कुछ तीन मोड़ा लेते हैं।

प्रश्न हूँ अविग्रहाजीवस्य सूत्र का अर्थ आप ऐसा कर रहे हैं कि जीव की गति अविग्रह (बिना मोड़े की) होती है हूँ क्या यह सही है ?

उत्तर हूँ क्यों, इसमें क्या गलती है ? उक्त सूत्र का सीधा-सच्चा और सही अर्थ तो यही है; क्योंकि मुक्त और संसारी हूँ सभी जीवों की गति अविग्रह तो होती ही है।

प्रश्न हूँ होती तो है; पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक जैसे महान ग्रन्थों में इस सूत्र का अर्थ ऐसा किया है कि मुक्त जीवों की गति

अविग्रह होती है।

उत्तर हूँ वह अर्थ भी सही है; क्योंकि उन्होंने उसकी सत्यार्थता को सयुक्ति सिद्ध किया है। हमने भी उक्त ग्रन्थों में समागत इस प्रकरण को गंभीरता से देखा है।

वैसे तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि निष्कर्ष तो दोनों का एक ही है। फिर भी न जाने क्यों हमें सहज, सरल प्रतिपादन यह लगा; इसलिए हमने सहजता से यह अर्थ किया है। इसमें अन्य कोई भाव नहीं है ॥२७-२८॥

एक भव से दूसरे भव में जाने के लिए मुक्त और संसारी जीवों को कितने मोड़े लेने होते हैं हूँ यह स्पष्ट हो जाने के बाद यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि अविग्रहगति में कितना समय लगता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में आगामी सूत्र कहा है हूँ

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

अविग्रहगति में अर्थात् बिना मोड़ेवाली गति में मात्र एक समय लगता है। इस अविग्रहगति को ऋजुगति भी कहते हैं।

जब कोई जीव अष्ट कर्मों और सभी विकारों से पूर्णतः मुक्त होकर सिद्धदशा को प्राप्त होता है; तब वह जहाँ है, जिस स्थिति में है; वहीं से, उसी स्थिति में ऊर्ध्वगमन करता है और सीधा एक समय में सात राजू पार कर अगले समय में लोकाग्र में स्थित सिद्धशिला में विराजमान हो जाता है।

तथा किसी संसारी जीव को, जहाँ वह है, वहाँ से एकदम सीधे में ऊपर ही जन्म लेना हो तो वह बिना मोड़ा लिए अगले समय में वहाँ जन्म ले लेता है।

इसप्रकार मुक्त व संसारी जीवों की गति अविग्रह होती है ॥२९॥

अब आगामी सूत्र में यह बताते हैं कि विग्रहवाली गति में अर्थात् मोड़ेवाली गति में जीव अनाहारक रहता है। सूत्र मूलतः इसप्रकार है हूँ

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥३०॥

विग्रहगति में जीव एक समय, दो समय या तीन समय तक अनाहारक रहता है।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक हूँ इन तीन शरीरों तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करनेवाले जीवों को आहारक और उक्त पुद्गलों को ग्रहण नहीं करनेवाले जीवों को अनाहारक कहते हैं।

जो संसारी जीव एक मोड़ा लेकर उत्पन्न होते हैं, वे जीव एक समय तक अनाहारक रहते हैं। इसीप्रकार जो जीव दो या तीन मोड़ा लेकर जन्म धारण करते हैं, वे क्रमशः दो या तीन समय तक अनाहारक रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि मोड़े के समय जीव अनाहारक रहता है, किन्तु जब मोड़ा समाप्त करके अपने उत्पत्ति स्थान को प्राप्त कर लेता है, उस समय आहारक हो जाता है ॥३०॥

जन्म और योनि

विग्रहगति में मोड़े और मोड़े के समय अनाहारक रहने की चर्चा के बाद अब सहजभाव से ही जन्म और योनि की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; क्योंकि विग्रहगति के बाद जीव को कहीं न कहीं जन्म तो लेना ही है।

यह चर्चा पाँच सूत्रों में सम्पन्न होगी। उक्त पाँच सूत्रों में पहला सूत्र इसप्रकार है ह

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद हूँ ये तीन प्रकार के जन्म हैं।

नवीन शरीर के धारण करने को जन्म कहते हैं।

१. तीनों लोकों में सर्वत्र बिना माता-पिता के संबंध के सब ओर से पुद्गलों को ग्रहण करके होनेवाली शरीर की रचना को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

२. महिलाओं के गर्भाशय में माता-पिता के रज-वीर्य के मिलने से होनेवाली शरीर की रचना को गर्भजन्म कहते हैं।

३. देव-नारकियों के जन्म को उपपाद जन्म कहते हैं। उपपाद शय्या में होनेवाले उपपाद जन्म में पैदा होते ही अन्तर्मुहूर्त में शरीर पूर्ण हो जाता है।

सम्मूर्च्छन जन्म अत्यन्त स्थूल और अल्पजीवी होता है। गर्भजन्म के होने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है और उपपाद जन्मवाले सबसे अधिक दीर्घजीवी होते हैं ॥३१॥^१

दूसरा सूत्र इसप्रकार है ह

सचितशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

१. सचित, २. शीत, और ३. संवृत्त हूँ ये तीन और इन तीन की

प्रतिपक्षभूत, ४. अचित्त, ५. उष्ण और ६. विवृत तथा उक्त तीन जोड़ों की मिश्र अर्थात् मिश्रित, ७. सचित्ताचित्त, ८. शीतोष्ण और संवृत-विवृत हूँ ये नौ जन्म लेने की योनियाँ हैं अर्थात् जन्म लेने के स्थान हैं।

जीवों के उत्पन्न होने के स्थान-विशेष को योनि कहते हैं। जो योनि चेतना सहित हो, उसे सचित्त योनि कहते हैं। जो योनि चेतना से रहित हो; उसे अचित्त योनि कहते हैं।

जो योनि सचित्त भी और अचित्त भी हूँ दोनों का मिश्रण हो, उसे सचित्ताचित्त योनि कहते हैं।

इसीप्रकार ठंडी योनि को शीत योनि, गर्म योनि को उष्ण योनि तथा शीत और उष्ण हूँ दोनों के मिश्रणरूप योनि को शीतोष्ण योनि कहते हैं।

जो योनि स्थान ढंका हुआ हो, उसे संवृत योनि; जो योनि स्थान खुला हुआ हो, स्पष्ट दिखाई देता हो, उसे विवृत तथा जो स्थान उक्त दोनों योनियों का मिश्रण हो, उसे संवृत-विवृत योनि कहते हैं।

उक्त नौ योनियों में उपपाद जन्मवाले देव और नारकियों की योनि अचित्त, शीत, उष्ण तथा संवृत होती है।

गर्भ-जन्मवाले जीवों की योनि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा संवृत-विवृत होती है।

सम्मूर्च्छन जन्मवालों की योनि सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण होती है।

तेजसकायिक जीवों की योनि उष्ण ही होती है।

एकेन्द्रियों संवृत और विकलेन्द्रियों अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रियों को योनि विवृत होती है।

सामान्य से योनियाँ नौ होती हैं और विस्तार से चौरासी लाख योनियाँ होती हैं।

योनि और जन्म में आधार-आधेय का संबंध है। योनि आधार है

और जन्म आधेय है; क्योंकि जीवों का जन्म योनियों में होता है और योनियों के आधार से होता है ॥३२॥

जन्म और योनियों का स्वरूप स्पष्ट होने के बाद अब यह बताते हैं कि किन जीवों का कौनसा जन्म होता है।

सर्वप्रथम गर्भजन्मवालों की बात करते हैं ह

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जरायुज, अण्डज और पोत हूँ इन तीन प्रकार के प्राणियों का गर्भजन्म होता है।

१. खून-मांस से बने हुए जाल को जर कहते हैं। जन्म के समय जो जीव जर में लिपटे रहते हैं, उन्हें जरायुज जीव कहते हैं। जैसे ह मनुष्य, गाय, बैल वगैरह।

२. जो जीव अण्डे से उत्पन्न होते हैं, उन्हें अण्डज कहते हैं। जैसे ह कबूतर आदि पक्षी।

३. और जिनके ऊपर कुछ भी आवरण नहीं होता, जो योनि से निकलते ही चलने-फिरने लगते हैं, उन्हें पोत कहते हैं। जैसे ह शेर आदि।

ध्यान रहे जरायु और अण्डे के साथ 'ज' लगा हुआ है; पर पोत के साथ 'ज' नहीं है; क्योंकि जरायुज और अण्डज जर और अण्डे से वेष्टित रहते हैं, पर पोत जन्मवाले पूर्णतः निरावरण रहते हैं ॥३३॥

अब उपपाद और सम्मूर्च्छन जन्मवालों की बात करते हैं।

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है।

गर्भ और उपपाद जन्मवालों को छोड़कर शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

शरीरों का स्वरूप एवं भेद

जब कोई जीव जन्म लेगा तो किसी न किसी शरीर को तो धारण करेगा ही; क्योंकि नये शरीर को धारण करने को ही तो जन्म कहते हैं।

शरीरों का यह विवेचन नौ सूत्रों में सम्पन्न होगा।

शरीरों के नाम बतानेवाला प्रथम सूत्र इसप्रकार है ह

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥

३६॥

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ह्ये पाँच शरीर हैं।

१. स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं। मनुष्य और तिर्यचों का शरीर औदारिक शरीर है।

२. जो शरीर विक्रिया के द्वारा एक, अनेक, सूक्ष्म, स्थूल, हल्का, भारी आदि रूप किया जा सके, उस शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह वैक्रियिक शरीर देव और नारकियों के होता है।

३. सूक्ष्म पदार्थ को जानने के लिए या संयम की रक्षा के लिए अन्य क्षेत्र में विद्यमान केवली या श्रुतकेवली के पास जाने (भेजने) के लिए या अन्य क्षेत्र में स्थित जिनालयों की वन्दना के लिए छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों द्वारा जिस शरीर की रचना होती है; उसे आहारक शरीर कहते हैं। उक्त कार्यों की सिद्धि के लिए छठवें गुणस्थानवर्ती ऋद्धिधारी मुनिराजों के मस्तक से एक हाथ का जो सफेद पुतला निकलता है; वह आहारक शरीर है। वह पुतला केवली या श्रुतकेवली के पास जाकर अपना कार्य करके अंतर्मुहूर्त में वापिस आ जाता है।

४. औदारिक आदि शरीरों को कान्ति प्रदान करनेवाला शरीर तैजस शरीर है।

५. ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं ॥३६॥

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि हमें औदारिक शरीर तो दिखाई देता है, अन्य शरीर दिखाई क्यों नहीं देते ?

इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ही अगले सूत्र का जन्म हुआ है ह

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

औदारिक से लेकर के आगे शरीर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म होते हैं।

तात्पर्य यह है कि औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, वैक्रियिक शरीर से आहारक शरीर सूक्ष्म है, आहारक से तैजस शरीर सूक्ष्म है और तैजस शरीर से कार्मण शरीर सूक्ष्म है ॥३७॥

प्रश्न ह्य यदि ऐसा है तो आगे शरीरों में परमाणु भी कम ही होंगे ?

उत्तर ह्य नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि आगे के शरीरों में परमाणु तो अधिक हैं। उक्त तथ्य को स्पष्ट करनेवाले सूत्र इसप्रकार हैं ह

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

प्रदेशों (परमाणुओं) की अपेक्षा तैजस से पहले के शरीर असंख्यात असंख्यातगुणे परमाणुवाले हैं।

तैजस और कार्मण में परमाणुओं की संख्या क्रमशः अनन्त-अनन्तगुणी हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर में और वैक्रियिक शरीर से आहारक शरीर में असंख्यातगुणे पुद्गल परमाणु हैं। आहारक शरीर से तैजस शरीर में अनन्तगुणे परमाणु हैं और तैजस शरीर से कार्मण शरीर में अनन्तगुणे परमाणु हैं ॥३८-३९॥

जो बातें ऊपर स्पष्ट की गई हैं; इनके अतिरिक्त भी तैजस और कार्मण शरीर में पाई जानेवाली अन्य कुछ विशेषताएँ इसप्रकार हैं ह

अप्रतीघाते ॥४०॥ अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥ सर्वस्य ॥४२॥

ये तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात से रहित हैं; इनका संबंध संसारी जीवों से अनादि से है और ये सभी संसारी जीवों के पाये जाते हैं।

जिसप्रकार अग्नि लोहे के पिण्ड में प्रवेश कर जाती है, वैसे ही इन तैजस और कार्मण शरीर का सर्वत्र प्रवेश अबाध है; क्योंकि ये अप्रतिघाती हैं। ये वज्रमय पटल से भी नहीं रुकते।

यद्यपि वैक्रियिक और आहारक शरीर भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं और वे भी बहुत कुछ अप्रतिघाती हैं; तथापि उन्हें यहाँ अप्रतिघाती नहीं कहा; क्योंकि वे समस्त लोक में अप्रतिघाती नहीं हैं।

आहारक शरीर ढाई द्वीप तक ही जा सकता है। मनुष्य को प्राप्त विक्रियाऋद्धि भी मनुष्य लोक अर्थात् ढाई द्वीप तक ही सीमित है।

देवों को प्राप्त वैक्रियिक शरीर त्रस नाली के भीतर, ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक और नीचे तीसरे नरक तक ही जा सकता है।

अतः वह भी समस्त लोक तक अप्रतिघाती नहीं हैं।

अतः यहाँ उन्हीं शरीरों को अप्रतिघाति कहा है; जो समस्त लोक में अप्रतिघाती हैं।

इन दोनों शरीरों का आत्मा से अनादि संबंध परम्परा की दृष्टि से है; क्योंकि ये शरीर भी बदलते रहते हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि पुराने कर्मों का उदय होकर अभाव हो जाता है और नये कर्म निरंतर बंधते रहते हैं। अतः कार्मण शरीर बदलता ही रहता है। इसीप्रकार तेजस शरीर बदलता रहता है; पर अनादिकाल से आजतक यह संसारी जीव एक समय भी इनके संबंध के बिना नहीं रहा; अतः इन दोनों शरीरों का आत्मा के साथ कथंचित् अनादि संबंध है और कथंचित् सादि। यहाँ जो अनादि संबंध कहा है, वह परम्परा की दृष्टि से ही कहा ॥४०-४१-४२॥

अब आगामी सूत्र में यह बताते हैं कि एक साथ अधिक से अधिक कितने शरीर हो सकते हैं या होते हैं ?

सूत्र मूलतः इसप्रकार है ह

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

तेजस और कार्मण शरीर से लेकर एक जीव के एक समय में चार शरीर तक हो सकते हैं।

विग्रहगति में तो जीव के तेजस और कार्मण ह ये दो शरीर ही होते हैं। विग्रहगति के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर मनुष्य और तिर्यचों के औदारिक, तेजस और कार्मण ह ये तीन शरीर होते हैं अथवा देव और नारकियों के वैक्रियिक, तेजस और कार्मण ह ये तीन शरीर होते हैं।

संयमी जीवों में आहारक ऋद्धिवाले छठवें गुणस्थानवर्ती किन्हीं-किन्हीं मुनिराजों के औदारिक, आहारक, तेजस और कार्मण ह ये चार शरीर हो सकते हैं।

अथवा विक्रिया ऋद्धिधारी मुनिराजों के औदारिक, वैक्रियिक, तेजस और कार्मण ह ये चार शरीर भी हो सकते हैं।^१

वैक्रियिक और आहारक शरीर एक साथ नहीं होते; इसकारण एक साथ पाँच शरीर नहीं हो सकते ॥४३॥

अब यह कहते हैं कि कार्मण शरीर उपभोग रहित है। सूत्र मूलतः इसप्रकार है ह

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

कार्मण नामक अन्तिम शरीर उपभोग से रहित होता है।

इन्द्रियों से शब्द वगैरह के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं।

इसप्रकार का उपभोग कार्मण शरीर में नहीं होता, इसलिए वह निरुपभोग है।

विग्रहगति में भावेन्द्रियाँ तो होती ही हैं, पर द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होती; इसलिए यहाँ शब्दादि विषयों का ग्रहण नहीं होता। यही कारण है कि कार्मण शरीर उपभोग रहित होता है।

किस जन्म में कौन शरीर

अब यह स्पष्ट करते हैं कि यह जीव किस जन्म में कौनसा शरीर धारण करता है।

सूत्र मूलतः इसप्रकार है ह

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म में आदि का अर्थात् औदारिक शरीर प्राप्त होता है।

इसे इसप्रकार कह सकते हैं कि औदारिक शरीर धारण करनेवाले जीवों का गर्भ या सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

उपपाद जन्म में वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है।

इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि वैक्रियिक शरीरवाले देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उपपाद जन्मवालों के अलावा अन्य के वैक्रियिक शरीर नहीं होता ?

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि ह

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

वैक्रियिक शरीर लब्धि निमित्तिक भी होता है।

तात्पर्य यह है कि विशेष तप करने से जो ऋद्धि प्राप्त होती है; उसे लब्धि कहते हैं। विक्रियालब्धि से प्राप्त होनेवाला वैक्रियिक शरीर औदारिक जन्मवाले मनुष्यों के भी हो जाता है। यह एक अपवाद है ॥४७॥

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तप के प्रभाव से वैक्रियिक शरीर ही होता है कि अन्य कोई शरीर भी होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं ह

तैजसमपि ॥४८॥

तैजस शरीर भी लब्धि निमित्तिक होता है ।

तैजस शरीर दो प्रकार का होता है । एक तो वह जो समस्त संसारी जीवों का पाया जाता है और सभी शरीरों को कान्ति प्रदान करता है और दूसरा वह जो तप के प्रभाव से छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों को ही होता है । इसे लब्धि निमित्तिक कहते हैं । यह तैजस शरीर में शरीर के दायें या बायें कंधे से एक हाथ प्रमाण एक पुतला निकलता है ।

यह लब्धि निमित्तिक तैजस शरीर भी दो प्रकार का होता है ह

१. शुभ तैजस और २. अशुभ तैजस ।

१. शुभ तैजस ह .

आहारक शरीर

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है और प्रमत्त संयत मुनि के ही होता है।

सूक्ष्म तत्त्व का निर्णय करने के लिए या तीर्थयात्रा के उद्देश्य से छठवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत मुनिराज मस्तक से एक हाथ की ऊँचाईवाला धातु-उपधातु से रहित सफेद रंग का एक पुतला निकलता है; वह आहारक शरीर है। समचतुरस्र संस्थानवाला वह आहारक शरीर न तो किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। वह आहारक शरीर केवली भगवान के पास, अपनी शंकाओं का समाधान पाकर अन्तर्मुहूर्त के भीतर लौट आता है और मूल शरीर में, औदारिक शरीर में समाहित हो जाता है।

उक्त जीवों का लिंग विधान

अब यह बताते हैं कि चारों गति के विभिन्न जन्मवाले जीव किस-किस लिंग के होते हैं।

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥ न देवाः ॥५१॥
शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक लिंगवाले ही होते हैं।

देव नपुंसक लिंगवाले नहीं होते। देवगति में पुरुष वेद और स्त्री वेद, दो ही वेद होते हैं।

नारकी, देव तथा सम्मूर्च्छन जीवों के सिवा शेष जीव अर्थात् गर्भज, तिर्यच और मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं। इतना विशेष है कि भोगभूमि तथा म्लेच्छखण्ड के मनुष्यों में स्त्री-पुरुष वेद ही होते हैं।

आयु का अपकर्षण

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽन-
पवर्त्यायुषः ॥५३॥

औपपादिक जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देह अर्थात् उसी भव से मोक्ष जाने उत्तमसंहननवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोगभूमिया जीवों की भुज्यमान आयु का अपकर्षण नहीं होता, शेष जीवों की भुज्यमान आयुकर्म का भी अपकर्षण हो सकता है।

तीसरा अध्याय

पृष्ठभूमि

तत्त्वार्थों के निरूपण करनेवाले इस तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र में मोक्षमार्ग से लेकर मोक्ष तक का निरूपण है। इसलिए इसका अपर नाम मोक्षशास्त्र भी सार्थक ही है।

अबतक इसमें मोक्षमार्ग और उसमें समागत सम्यग्दर्शन के संदर्भ में सात तत्त्वार्थों की चर्चा आरंभ हुई। उक्त सात तत्त्वार्थों के बारे में क्या-क्या और कैसे-कैसे जानना चाहिए; इसके संदर्भ में प्रमाण, नय; नाम, स्थापना आदि निक्षेपों; निर्देश, स्वामित्व आदि एवं सत्संख्यादि को जानना आवश्यक है ह्व यह बताया।

इसके बाद प्रमाण के रूप में पाँच ज्ञानों, उनके प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद आदि की चर्चा हुई और अन्त में नैगमादि सात नयों के निरूपण के साथ पहला अध्याय समाप्त हो गया।

दूसरे अध्याय में जीवतत्त्व के संदर्भ में जीव के त्रेपन प्रकार के असाधारण भावों की चर्चा के उपरान्त जीव का लक्षण, उसके भेद-प्रभेद की चर्चा की गई। तदुपरान्त जीवों के जन्म, योनियाँ, शरीर आदि की चर्चा के साथ दूसरा अध्याय समाप्त होता है।

अब तीसरे अध्याय में तीन लोक में ये संसारी जीव कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं; इसके संदर्भ में सबसे पहले अधोलोक फिर मध्यलोक की चर्चा होगी। ऊर्ध्वलोक की चर्चा चौथे अध्याय में होगी।

मुक्त जीव तो लोकाग्र अर्थात् ऊर्ध्वलोक के अन्त में स्थित हैं, सिद्ध परमात्मा सिद्धशिला पर नहीं; सिद्धशिला से ऊपर घनोदधि वातवलय, घनवातवलय एवं उससे भी ऊपर तनुवातवलय के अंत में रहते हैं।^१ पर संसारी जीव तीन लोक में कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं; इस बात को स्पष्ट करने के लिए सबसे पहले अधोलोक का वर्णन आरंभ करते हैं।

१. तिलोपपण्णत्ति, अध्याय ९, गाथा-३

अधोलोक

अधोलोक में सात नरक हैं, जिनका स्वरूप इसप्रकार है ह्व
रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥१॥

अधोलोक में ह्व १. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. वालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमप्रभा और ७. महातमप्रभा ह्व ये सात नरक की भूमियाँ क्रम से नीचे-नीचे हैं और ये भूमियाँ घनोदधि वातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाश के आधार पर प्रतिष्ठित हैं।

जिसमें घना पानी और घनी वायु हो, वह घनोदधिवातवलय है।^१ जहाँ घनी वायु हो, वह घनवातवलय है और जहाँ हल्की वायु हो, वह तनुवातवलय है।

वस्तुतः इन सात नरकों के रूढ़िगत नाम तो १. धम्मा, २. वंशा, ३. मेघा, ४. अंजना, ५. अरिष्ठा, ६. मघवी, और ७. माघवी हैं। रत्नप्रभा आदि सार्थक नाम तो उन नरकों की भूमि की प्रभा के आधार पर बताये गये हैं।

जहाँ रत्नों जैसी प्रभा हो, वह रत्नप्रभा; जहाँ शर्करा (शक्कर) जैसी प्रभा हो, वह शर्कराप्रभा; जहाँ वालु (रेत) जैसी प्रभा हो, वह वालुकाप्रभा; जहाँ कीचड़ जैसी प्रभा हो, वह पंकप्रभा; जहाँ धुएँ जैसी प्रभा हो, वह धूमप्रभा; जहाँ अंधकार जैसी प्रभा हो, वह तमप्रभा और जहाँ घने अंधकार जैसी प्रभा हो, वह महातमप्रभा है।

ये सातों भूमियाँ क्रमशः नीचे-नीचे हैं। इस मध्यलोक के नीचे सबसे पहले प्रथम नरक के रूप में रत्नप्रभा भूमि है, फिर उसके नीचे शर्कराप्रभा भूमि, फिर उसके नीचे वालुकाप्रभा भूमि, फिर उसके नीचे पंकप्रभा भूमि, फिर उसके नीचे धूमप्रभा भूमि, फिर उसके नीचे तमप्रभा

१. भाप का घना वातावरण

भूमि और फिर उसके नीचे अन्त में महातमप्रभा भूमि है।

यह लोक मध्यलोक के नीचे होने से तो अधोलोक कहलाता ही है; पर इस लोक में होनेवाली भूमियों की रचना भी क्रमशः नीचे-नीचे हैं; इसलिए भी इस लोक को अधोलोक कहते हैं।

रत्नप्रभा नामक पहली भूमि के तीन भाग हैं ह १. खर भाग, २. पंक भाग और ३. अब्बहुलभाग।

पहली भूमि में नारकी ही रहते हों, यह बात नहीं है; उसमें व्यन्तर और भवनवासी देव भी रहते हैं। खर भाग में राक्षस को छोड़कर शेष सात प्रकार के व्यन्तर और असुरकुमार को छोड़कर शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। राक्षस और असुरकुमार पंकभाग में रहते हैं।

कुछ व्यन्तर तीर्थों, पर्वतों, खण्डहरों और वृक्षों आदि पर मध्यलोक में भी रहते हैं।

पहली भूमि एक लाख अस्सी हजार योजन^१ मोटी है। इसके तीन भाग हैं ह १. खरभाग ह १० लाख हजार योजन मोटा है।

२. पंकभाग ह १० लाख हजार योजन मोटा है।

३. अब्बहुलभाग ह १० लाख हजार योजन मोटा है।

दूसरी भूमि बत्तीस हजार योजन मोटी है, तीसरी भूमि अट्ठाईस हजार योजन मोटी है, चौथी भूमि चौबीस हजार योजन मोटी है, पाँचवीं भूमि बीस हजार योजन मोटी है, छठी भूमि सोलह हजार योजन मोटी है और सातवीं भूमि आठ हजार योजन मोटी है।

ये सातों भूमियाँ घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार से स्थित हैं अर्थात् सभी भूमियाँ घनोदधि वातवलय के आधार से स्थित हैं, घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आधार से स्थित है, घनवातवलय तनुवातवलय के आधार से स्थित है, तनुवातवलय आकाश के आधार से स्थित है और आकाश स्वयं के आधार से स्थित है ॥१॥

१. दो हजार कोश का एक योजन होता है।

नरक की भूमियों में होनेवाले बिल

जिसप्रकार देवों के रहने के स्थान के रूप में ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) में विमान और मनुष्यलोक में मनुष्यों को रहने के लिए मकान होते हैं; उसीप्रकार अधोलोक की नरक भूमियों में नारकियों को रहने के लिए बिल होते हैं। कौन से नरक में कितने बिल हैं ह यह बतानेवाला दूसरा सूत्र इसप्रकार है ह

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपंचदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशत-
सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

उन पृथिवियों में क्रम से पहली पृथिवी में ३० लाख, दूसरी पृथिवी में २५ लाख, तीसरी पृथिवी में १५ लाख, चौथी पृथिवी में १० लाख, पाँचवीं पृथिवी में ३ लाख, छठवीं पृथिवी में पाँच कम एक लाख और सातवीं पृथिवी में केवल ५ बिल हैं। इसप्रकार कुल ८४ लाख बिल हैं।

ये बिल जमीन में गढ़े हुए ढोल की पोल के समान हैं और ये गोल, चौकोन, त्रिकोन, षट्कोन व अष्टकोन आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

इन बिलों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है ह १. इन्द्रक (इन्द्रों के समान महत्त्वपूर्ण) बिल, २. श्रेणीबद्ध (पंक्ति में बद्ध) बिल और ३. पुष्पप्रकीर्णक बिल।

इन बिलों की भौगोलिक स्थिति इसप्रकार है ह

नरक की सात भूमियाँ ४९ पटलों^१ में विभाजित हैं। पहले नरक की भूमि के खर व पंक भाग को छोड़कर अब्बहुल भाग में १३ पटल हैं और उनमें सीमन्तक, निरय, रौरव आदि १३ इन्द्रक बिल हैं। दूसरी भूमि (नरक) में ११ पटल हैं और उनमें स्तनक, संस्तनक आदि ११ इन्द्रक बिल हैं। तीसरी भूमि में ९ पटल हैं और तप्त, त्रस्त आदि ९ इन्द्रक बिल हैं। चौथी भूमि में ७ पटल हैं और उनमें आर, मार आदि

१. प्रस्तर/पाथड़े/खन आदि पटल के ही पर्यायवाची हैं।

७ इन्द्रक बिल हैं। पाँचवीं भूमि में ५ पटल हैं और उनमें तम, भ्रम आदि ५ इन्द्रक बिल हैं। छठवीं भूमि में ३ पटल हैं और हिम, वर्दल और ललक ये ३ इन्द्रक बिल हैं। सातवीं भूमि में मात्र १ पटल है और केवल १ अप्रतिष्ठान नाम का इन्द्रक बिल है।

इसप्रकार इन पटलों के मध्यबिन्दु में १-१ इन्द्रक बिल हैं। प्रथम नरक के प्रथम पटल में चारों दिशाओं में ४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल हैं और विदिशाओं में ४८-४८ श्रेणीबद्ध बिल हैं।

इसके बाद नीचे-नीचे के पटलों में १-१ श्रेणीबद्ध बिल घटता जाता है अर्थात् प्रथम नरक के दूसरे पटल की दिशाओं में ४८-४८ और विदिशाओं में ४७-४७ बिल होते हैं।

इसीप्रकार घटते-घटते छठवें नरक के तीसरे अर्थात् अन्तिम पटल में २-२ श्रेणीबद्ध बिल और विदिशाओं में १-१ श्रेणीबद्ध बिल रह जाते हैं।

सातवें नरक की भूमि में एक ही पटल होता है और उसमें एक इन्द्रक बिल और चार दिशाओं में चार श्रेणीबद्ध बिल हूँ इसप्रकार कुल ५ बिल होते हैं।

सातवें नरक में विदिशाओं में बिल नहीं हैं। पूर्व दिशा में काल, पश्चिम दिशा में महाकाल, दक्षिण दिशा में रौरव, उत्तर दिशा में महारौरव और मध्य में अप्रतिष्ठान नामक बिल हैं।

भूमि का जो अंश शेष रहता है, उसमें पुष्पप्रकीर्णक बिल होते हैं। जिसप्रकार हम हाथ में पुष्पों को लेकर क्षेपण करते हैं, फेंक देते हैं, उसमें कोई भी पुष्प कहीं भी अव्यवस्थितरूप से गिर जाता है, उसीप्रकार इन बिलों की स्थिति है, इसलिए इनको पुष्पप्रकीर्णक बिल कहते हैं।

इसप्रकार ये बिल इन्द्रक बिल, श्रेणीबद्ध बिल और पुष्पप्रकीर्णक बिल के रूप में तीन विभागों में विभाजित हैं।

इन बिलों की संख्या को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है हूँ

पृथ्वी	इन्द्रक बिल	श्रेणीबद्ध बिल	पुष्पप्रकीर्णक बिल	योग
रत्नप्रभा	१३	४४२०	२९९५५६७	३००००००
शर्कराप्रभा	११	२६८४	२४९७३०५	२५०००००
वालुकाप्रभा	९	१४७६	१४९८५१५	१५०००००
पंकप्रभा	७	७००	९९९२९३	१००००००
धूमप्रभा	५	२६०	२९९७३५	३००००००
तमप्रभा	३	६०	९९९३२	९९९९५
महातमप्रभा	१	४	हूँ	५
	<u>४९</u>	<u>९६०४</u>	<u>८३९०३४७</u>	<u>८४०००००</u>

इन सातों पृथिवियों में कुछ बिल संख्यात लाख योजन विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) वाले और कुछ असंख्यात लाख योजन विस्तारवाले हैं। पाँचवें भाग (२० प्रतिशत) तो संख्यात योजन विस्तारवाले और ४ भाग (८० प्रतिशत) असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं।

इन्द्रक बिलों की गहराई प्रथम नरक में १ कोश^१ और आगे क्रमशः आधा-आधा कोश बढ़ती हुई सातवें में ४ कोश हो जाती है।

श्रेणीबद्ध बिलों की गहराई अपने इन्द्रक बिलों की गहराई से तिहाई और अधिक है।

पुष्पप्रकीर्णकों की गहराई, श्रेणीबद्ध बिलों और इन्द्रक बिलों हूँ इन दोनों की मिली हुई गहराई के बराबर है।

ये सब बिल ऊँट आदि के समान अशुभ आकारवाले हैं। इनके शोचन रोदन आदि भदे-भदे नाम हैं।

जिसप्रकार लोक में अपेक्षाकृत संपन्न लोगों को पृथक्-पृथक् कमरों में ठहराया जाता है और सामान्यजन को सामूहिक रूप से एक हॉल में ठहरा दिया जाता है, उसीप्रकार ऊपर-ऊपर के नरकों में अपेक्षाकृत छोटे बिल हैं और नीचे के नरकों में अपेक्षाकृत बड़े बिल हैं॥२॥

१. एक कोश में दो मील होते हैं।

नारकियों के दुःखों का वर्णन

अधोलोक की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करने के उपरांत अब वहाँ रहनेवाले नारकी जीवों के दुःखों का वर्णन करते हैं।

नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः
॥३॥ परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

नारकी जीव सदैव ही अत्यन्त अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर शरीर, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया को धारण करते हैं।

नारकी जीव परस्पर एक-दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं। वे निरन्तर परस्पर में लड़ते-झगड़ते रहते हैं।

उन नारकियों को चौथी पृथिवी से पहले अर्थात् तीसरी पृथिवी पर्यन्त अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम के धारक अम्बावरीष आदि जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा दुःख दिए जाते हैं अर्थात् अम्ब-अम्बरिष असुरकुमारदेव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवों को दुःख देते हैं तथा उनके पूर्व के वैर का स्मरण करा-कराके परस्पर लड़ाते हैं और दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं।

नारकी जीव स्वभाव से क्रूर स्वभाववाले होते हैं। एक-दूसरे को देखते ही उनका क्रोध भभक उठता है और वे एक-दूसरे को मारने काटने लगते हैं। उनका शरीर वैक्रियिक होता है; वे उस वैक्रियिक शरीर से ही नाना प्रकार के आयुध बनाकर, उनसे दूसरे नारकियों को पीड़ा पहुँचाते हैं।

तीसरे नरक तक देवों का भी गमन होता है, इसलिए असुरकुमार नामक भवनवासी देव भी कुतूहलवश उन्हें आपस में भिड़ा देते हैं और उनका घात-प्रत्याघात देखकर प्रसन्न होते हैं।

पर यह काम सभी असुरकुमार देव नहीं करते, किन्तु अम्बावरीष आदि जाति के कुछ असुर कुमार देव ही करते हैं।

प्रथम और दूसरी पृथिवी में कापोत लेश्या है। तीसरी पृथिवी में ऊपर के भागों में कापोत लेश्या है और नीचे के भाग में नील लेश्या है। चौथी पृथिवी में नील लेश्या है। पाँचवी पृथिवी में ऊपर के भाग में नील लेश्या है और नीचे के भाग में कृष्ण लेश्या है। छठी पृथिवी में कृष्ण लेश्या है और सातवीं पृथिवी में परम कृष्ण लेश्या है।

इसप्रकार नीचे-नीचे के नरकों में ऊपर के नरकों से अधिक अशुभ लेश्याएँ होती हैं। यह द्रव्य लेश्याओं का कथन है।

भाव लेश्याएँ निरन्तर बदलती रहती हैं, पर वे भी स्वस्थान के अनुसार ही होती हैं।

उन नारकियों के परिणाम शरीर की आकृतियाँ, वेदना और विक्रिया भी नीचे-नीचे के नरकों में अधिक अशुभ होते हैं।

पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथिवी में मात्र उष्ण वेदनावाले बिल हैं। पाँचवीं पृथिवी में ऊपर के दो लाख बिल उष्ण वेदनावाले हैं और नीचे के एक लाख बिल शीत वेदनावाले हैं तथा छठी और सातवीं पृथिवी के बिल शीत वेदनावाले ही हैं।

वस्तुतः वे नारकी जीव अपनी मिथ्या मान्यता, आत्मा संबंधी अज्ञान और कषाय भावों के कारण ही दुःखी होते हैं। बाह्य संयोग तो निमित्तमात्र हैं। जिनके परिणाम अशुभ, अशुभतर और अशुभतम होते हैं, उनके संयोग भी नियम से वैसे ही अशुभ होते हैं।

अतः जिन लोगों को नरकों में प्राप्त होनेवाले उक्त दुःखों से बचने की भावना हो; उन्हें वस्तुस्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहिए, अपने आत्मा को जानना-पहिचानना चाहिए और कषाय भावों का त्याग कर अपने आत्मा में ही समा जाना चाहिए। सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है ॥३-५॥

नारकी जीवों की आयु

नरकों के भयंकर दुःखों को जानकर यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि नारकियों को ये दुःख कितने काल तक भोगना पड़ते हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में अगले सूत्र की रचना हुई है, जो इसप्रकार है ह
तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा
सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

उन नरकों में नारकी जीवों के रहने की उत्कृष्ट आयु क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर है।

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु पहले नरक में एक सागर, दूसरे नरक में तीन सागर, तीसरे नरक में सात सागर, चौथे नरक में दस सागर, पाँचवें नरक में सत्रह सागर, छठवें नरक में बाईस सागर और सातवें नरक में तैंतीस सागर है।

जिसप्रकार सागर अर्थात् समुद्र में अगाध और अपार जल होता है; उसीप्रकार काल के मापरूप सागर में भी बहुत लम्बा काल होता है।

सागर का स्वरूप आगम में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह

दो हजार कोस गहरे तथा इतने ही चौड़े गोलाकार गड्ढे को, कैंची से जिसके दो टुकड़े न हो सकें ह ऐसे तथा एक से सात दिन की उम्र के उत्तम भोगभूमि के मेंढे के बालों से भर दिया जाये। फिर उसमें से सौ-सौ वर्ष के अंतर से एक-एक बाल का टुकड़ा निकाला जाये।

जितने काल में उन सब बालों को निकाल दिया जाये, उसे 'व्यवहार पल्य' कहते हैं; व्यवहारपल्य से असंख्यातगुने समय को 'उद्धारपल्य' और उद्धारपल्य से असंख्यातगुने काल को 'अद्धारपल्य' कहते हैं। दस कोड़ाकोड़ी अद्धारपल्यों का एक सागर होता है।

इसप्रकार ये नारकी जीव बहुत लम्बे काल तक नरक की यातना को भोगते हैं ॥६॥

नरकों के संबंध में कुछ विशेष जानकारी

इन नरकों में रहनेवाले सभी नारकी जीव परस्पर में अत्यधिक मारकाट करते रहते हैं; परन्तु आयुकर्म की समाप्ति तक चाहकर भी मर नहीं पाते।

चारों गतियों में नरकगति ही एक ऐसी गति है, जहाँ के जीव मरना चाहते हैं। अन्य गतियों में कोई भी जीव कितने ही कष्ट में क्यों न हो; पर वह मरना नहीं चाहता। अंत समय तक मृत्यु से बचने का ही प्रयास करता रहता है; क्योंकि जो जीव जैसी भी स्थिति में पहुँच गया है, वह वहीं रम जाता है। उसे बदलना नहीं चाहता।

नरक एक ऐसी गति है, जहाँ कोई भी जीव रमता नहीं है, रमना नहीं चाहता; इसलिए नरक की व्याख्या इसप्रकार की गई है कि "नरता इति नारका" जहाँ जीव रमे नहीं, उस स्थान को नरक कहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि ऐसा कोई स्थान अभी तक देखने में नहीं आता; अतः नरकों के अस्तित्व पर भरोसा नहीं होता।

इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर यह है कि यदि कोई व्यक्ति एक व्यक्ति की हत्या करता है तो उसे एक बार फांसी पर लटकाया जाता है; यदि वही जीव हजारों लाखों जीवों का घात करे तो उसकी सजा में भी एक बार ही तो फांसी पर लटकाया जाता है; क्योंकि एक बार मर जाने पर उसे दुबारा फांसी पर लटकाना संभव नहीं है।

पर यह न्यायसंगत तो नहीं है। यह बात न्यायसंगत कैसे हो सकती है कि एक जीव को मारने की भी वही सजा और अनेकों जीवों को मारने की भी वही सजा।

अतः कोई न कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ उसे प्रतिदिन मारणान्तिक पीड़ा प्राप्त हो, मरण तुल्य कष्ट प्राप्त हो, पर वह मर न सके, मरे नहीं।

यही कारण है कि ऐसे महापाप करनेवाले जीव नरक में जाते हैं

और वहाँ सागरों पर्यन्त रहकर निरन्तर मारणान्तिक दुःख भोगते हैं।

हाँ, पर एक बात अवश्य है कि आयु की समाप्ति पर जब नारकी जीवों का मरण होता है, तब वे मरकर दुबारा नरक नहीं जाते, देव भी नहीं होते या तो वे तिर्यचगति में जन्म लेते हैं या मनुष्यगति में।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि नरक से मनुष्य या तिर्यचगति में आनेवाले जीव नियम से सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं; जबकि देवगति से आनेवाले एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं।

इससे एक बात सहज ही सिद्ध होती है कि जिसप्रकार आराम से सो जानेवाले यात्रियों का सामान चोरी हो जाता है, पर खड़े-खड़े यात्रा करनेवालों का सामान चोरी नहीं होता; उसीप्रकार भोगों में निरत रहनेवाले सुप्त जीव अनुकूलता में ज्ञानधन को गंवा देते हैं; किन्तु पीड़ा में ही सही, पर निरन्तर सजग रहनेवाले ज्ञानधन को नहीं गंवाते।

सभी नारकी नियम से सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं और सभी को नियम से भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान भी होता है; पर वे अपने इस ज्ञान का दुरुपयोग ही करते हैं और उसके माध्यम से अनन्त दुःख उठाते हैं।

हिंसादि महापापों के साथ-साथ मिथ्यात्व नामक महापाप भी नरकगति का कारण है; क्योंकि यह तो सर्वविदित ही है कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरक नहीं जाते।

अतः जिन्हें नरक के भयंकर दुःखों से बचना हो, वे अपने आत्मा को जानकर-पहिचानकर, स्वयं में अपनापन स्थापित कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करें और आत्मा में ही जमकर, रमकर चरित्रवंत होकर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ें।

इसप्रकार अधोलोक का वर्णन समाप्त होता है।

●

मध्यलोक

अधोलोक के वर्णन के उपरान्त अब मध्यलोक की चर्चा प्रसंग प्राप्त है। तीन लोक के बीच में होने से इसे मध्यलोक कहते हैं और यह तिरछा बसा है; इसलिए इसे तिर्यक् लोक भी कहा जाता है।

जिसप्रकार नरक एक-दूसरे के नीचे-नीचे हैं; उसप्रकार द्वीप और समुद्र एक-दूसरे के नीचे-नीचे नहीं, बल्कि एक-दूसरे को घेरे हुए अगल-बगल में तिरछे बसे हुए हैं।

मध्यलोक में स्थित द्वीप समुद्रों की चर्चा करनेवाले इस अध्याय के सातवें, आठवें और नौवें सूत्र इसप्रकार हैं ह

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

द्विद्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

शुभ हैं नाम जिनके, ऐसे जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र मध्यलोक में हैं।

ये दूने-दूने विस्तारवाले द्वीप और समुद्र अपने से पहलेवाले को घेरे हुए चूड़ी के आकार के समान वलयाकृत हैं।

उन द्वीप समुद्रों के मध्य में, मेरु है नाभि जिसकी, ऐसा एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप नामक द्वीप है।

तात्पर्य यह है कि ये द्वीप और समुद्र ग्राम और नगरों के समान नहीं बने हैं, बल्कि सबसे बीच में एक लाख योजन के विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। उसे चारों ओर से घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला लवण समुद्र है, उस लवण समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला धातकीखण्ड द्वीप है।

उस धातकीखण्ड द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला कालोदधि नाम का समुद्र है।

उस कालोदधि समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला पुष्करवर द्वीप है, उस पुष्करवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तार वाला पुष्करवर समुद्र है।

उस पुष्करवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला वारुणीवर द्वीप है, उस वारुणीवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला वारुणीवर समुद्र है।

उस वारुणीवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला क्षीरवर द्वीप है, उस क्षीरवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला क्षीरवर समुद्र है।

उस क्षीरवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला घृतवर द्वीप है, उस घृतवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला घृतवर समुद्र है।

उस घृतवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला इक्षुवर द्वीप है, उस इक्षुवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला इक्षुवर समुद्र है।

उस इक्षुवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला नंदीश्वर द्वीप है, उस नंदीश्वर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला नंदीश्वर समुद्र है।

उस नंदीश्वर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला अरुणवर द्वीप है, उस अरुणवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला अरुणवर समुद्र है।

उस अरुणवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला अरुणाभाष द्वीप है, उस अरुणाभाष द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला अरुणाभाष समुद्र है।

उस अरुणाभाष समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला कुण्डलवर द्वीप है, उस कुण्डलवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला कुण्डलवर समुद्र है।

उस कुण्डलवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला शंखवर द्वीप है। उस शंखवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला शंखवर समुद्र है।

उस शंखवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला रुचकवर द्वीप है। उस रुचकवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला रुचकवर समुद्र है।

इसप्रकार ये तेरह द्वीप और तेरह समुद्र हैं।

इसीप्रकार आगे-आगे जिस नाम का द्वीप है, उसी नाम का उससे दूने विस्तारवाला समुद्र है। इसीप्रकार पीछेवाले को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाले असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।

सबसे अंत में स्वयंभूरमण द्वीप एवं स्वयंभूरमण समुद्र है।

आठवें नंदीश्वर द्वीप में बावन अकृत्रिम चैत्यालय हैं, जिनकी वंदना करने अष्टाह्निका पर्व में देवगण जाते हैं।

इसके अतिरिक्त ग्यारहवें कुण्डलवर द्वीप में तथा तेरहवें रुचकवर द्वीप में भी ४-४ अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इन सभी की पूजन हम सब तेरहद्वीप विधान अथवा इन्द्रध्वज विधान में करते हैं।

चौथे से सातवें, नौवें-दसवें एवं बारहवें द्वीपों में अकृत्रिम चैत्यालय नहीं हैं।

पाँचवें समुद्र क्षीरसागर का जल निर्जन्तुक एवं दूध के समान सफेद और निर्मल होता है। तीर्थकरों का जन्माभिषेक उसी निर्जन्तुक पवित्र जल से किया जाता है।

अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में एक हजार योजन के विस्तारवाला महामत्स्य होता है, जिसके कान में तंदुल के आकार का एक मत्स्य होता है, जो उनके कान का मैल खाकर जिन्दा रहता है।

उक्त तंदुल मत्स्य का उदाहरण शास्त्रों में परिणामों की मलिनता के लिए दिया जाता है।

कहा जाता है कि वह हजार योजन वाला महामत्स्य अपने विशाल मुख को खोले हुए समुद्र में छह माह तक सोता रहता है, उसके मुख में हजारों छोटी-छोटी मछलियाँ आती-जाती रहती हैं। उन्हें देखकर यह तंदुल मत्स्य सोचता है कि यदि ये मछलियाँ मेरे मुख में आती तो मैं एक को भी नहीं छोड़ता, सभी को निगल जाता; पर यह मूर्ख अपने मुँह में आई मछलियों को भी वापिस चला जाने देता है।

अपने इन दुष्ट परिणामों के कारण एक भी जीव का घात नहीं कर पाने पर भी वह तंदुल मत्स्य मरकर नरक में जाता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब द्वीप-समुद्र असंख्यात हैं तो आपने मात्र तेरह द्वीपों के ही नाम क्यों गिनाये ?

उत्तर हूँ असंख्यात नाम तो गिने नहीं जा सकते, उनके नाम भी आगम में प्राप्त नहीं होते; हम कैसे गिनाते ? मात्र सोलह द्वीप समुद्रों के नाम आगम में प्राप्त होते हैं।

दूसरी बात यह भी तो है कि यदि आगम में प्राप्त भी होते और हम गिना भी देते तो क्या आप उन्हें याद रखते, ध्यान से पढ़ते; तेरह नामों में ही लोगों को कंटाला छूटने लगता है। तेरह नाम भी कौन याद रखता है, किस-किसको याद हैं ?

प्रश्न हूँ यदि ऐसी बात है तो आपने तेरह का ही आँकड़ा क्यों चुना, दस ही गिनाते या फिर सोलह गिना देते।

उत्तर हूँ तुम ठीक कहते हो, पर बात यह है कि तेरहवें द्वीप तक अकृत्रिम चैत्यालय हैं, उनके नाम न केवल आगम में अपितु पूजन-विधान में भी आते रहते हैं। इसलिए हमने यहाँ तेरह द्वीप-समुद्रों के नाम गिनाये हैं।

प्रश्न हूँ फिर अन्तिम द्वीप-समुद्र का नाम क्यों गिनाया ?

उत्तर हूँ एक तो उसमें रहनेवाले तन्दुल मत्स्य की चर्चा अभीष्ट थी, दूसरे कहते हैं कि अन्तिम समुद्र में असंख्यात तिर्यच पंचम गुणस्थानवर्ती विद्यमान हैं। उनकी उपेक्षा भी हमसे संभव नहीं हुई। ७-९॥

जम्बूद्वीप

जम्बूद्वीप और जम्बूद्वीप के बाहर के द्वीप-समुद्रों की चर्चा हुई। अतः अब यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि जम्बूद्वीप के भीतर क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में आगामी सूत्रों का जन्म हुआ है, जो इसप्रकार हैं ह

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि

॥१०॥

तद्विभाजिनःपूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-
रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

मणिविचित्रपार्श्वा उपरिमूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत हूँ ये सात वर्ष हैं, जिन्हें क्षेत्र भी कहते हैं।

इन क्षेत्रों को विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम तक लम्बे हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिण हूँ ये छह वर्षधर अर्थात् वर्षों (क्षेत्रों) को धारण करनेवाले, विभाजित करनेवाले पर्वत हैं।

ये छहों पर्वत क्रम से सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना हूँ इन मय हैं, इनके समान रंगवाले हैं।

इनके पार्श्व (अगल-बगल) अनेक प्रकार की विचित्र मणियों से जड़े हुए हैं; और ऊपर, मध्य एवं मूल में एक से विस्तार (चौड़ाई) वाले हैं।

तात्पर्य यह है कि ये पर्वत, पर्वतों जैसे ऊबड़-खाबड़ नहीं हैं, अपितु दीवालों जैसे ऊपर-नीचे और मध्य में एकसी चौड़ाई वाले हैं और अनेक प्रकार की रंगीन मणियों से जड़े हुए हैं, सुशोभित हैं।

जम्बू नाम के वृक्ष के कारण पड़ा है नाम जिसका, ऐसा यह प्रथम द्वीप जम्बूद्वीप चारों ओर से लवणसमुद्र से घिरा हुआ चूड़ी के आकार का एक द्वीप है। इस द्वीप में पूरब से लेकर पश्चिम दिशा तक फैले हुए हिमवन आदि छह पर्वत हैं, जिनके कारण ये द्वीप भरतादि सात क्षेत्रों में विभाजित हो गया है।

ये पर्वत विभिन्न प्रकार की मणियों से जड़े हुए अत्यंत मजबूत सुव्यवस्थित दीवारों जैसे नीचे से ऊपर तक एकसी चौड़ाईवाले हैं।

उक्त जम्बू नाम का वृक्ष वस्तुतः वृक्ष नहीं है, वनस्पतिकाय नहीं है। यह तो वृक्ष जैसे आकार की पृथिवी है, पृथिवीकाय है ॥१०-१३॥

सरोवर, कमल और देवियाँ

उक्त हिमवन आदि पर्वतों पर स्थित सरोवर और कमल तथा उनकी लंबाई, चौड़ाई और गहराई एवं उन कमलों पर रहनेवाली देवियाँ हूँ इन सब बातों को स्पष्ट करनेवाले आगामी सूत्र इसप्रकार हैं हूँ

**पद्ममहापद्मतिगिंछकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हृदा-
स्तेषामुपरि ॥१४॥**

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदूर्ध्वविष्कम्भो हृदः ॥१५॥

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

तद्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

**तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीहीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः
पल्योपमस्थितयः सामानिकपारिषत्काः ॥१९॥**

हिमवन आदि पर्वतों के ऊपर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के सरोवर (तालाब) हैं।

पहला पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा और लम्बाई से आधा अर्थात् पाँच सौ योजन चौड़ा है।

पहला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई) वाला है।

इसके बीच में एक योजन का कमल है।

आगे के सरोवर और कमल दूने-दूने विस्तारवाले हैं।

इन कमलों में क्रमशः श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी हूँ ये छह देवियाँ सामानिक और पारिषद देवों के साथ निवास करती हैं तथा इनकी आयु एक पल्योपम है।

इन हिमवन, महाहिमवन आदि पर्वतों पर क्रमशः पद्म, महापद्म आदि सरोवर (तालाब) हैं।

पद्म नामक प्रथम सरोवर (तालाब), पूरब से पश्चिम तक एक हजार योजन लंबा और उत्तर से दक्षिण तक पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका तल भाग वज्र से बना हुआ है और उसके किनारे अनेक प्रकार की मणियों और सोने से चित्र-विचित्र हैं, विभिन्न रंगों वाले हैं।

इस पद्म सरोवर की गहराई दस योजन है और इसमें एक योजन का कमल बना हुआ है। यह कमल वनस्पतिकाय का नहीं है; किन्तु यह कमल के आकार की पृथिवी ही है।

इसके आगे तिगिंछ सरोवर तक के सरोवर और कमल; लंबाई-चौड़ाई आदि की अपेक्षा दूने-दूने विस्तारवाले हैं।

केशरी नामक सरोवर की लंबाई, चौड़ाई और गहराई तिगिंछ सरोवर के समान ही है।

महापुण्डरीक सरोवर की लंबाई, चौड़ाई और गहराई केशरी से आधी है और पुण्डरीक सरोवर की लंबाई, चौड़ाई और गहराई महापुण्डरीक से आधी है।

इसप्रकार पहला पद्म सरोवर पूरब से पश्चिम तक एक हजार योजन लम्बा, उत्तर से दक्षिण तक पाँच सौ योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई दश योजन है और उसमें एक योजन लंबा-चौड़ा कमल है।

दूसरा महापद्म सरोवर दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई बीस योजन है और उसमें दो योजन लंबा-चौड़ा कमल है।

तीसरा तिगिंछ सरोवर चार हजार योजन लम्बा और दो हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई चालीस योजन है और उसमें चार योजन लंबा-चौड़ा कमल है।

चौथा केशरी सरोवर चार हजार योजन लम्बा और दो हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई चालीस योजन है और उसमें चार योजन लंबा-चौड़ा कमल है।

पाँचवाँ महापुण्डरीक सरोवर दो हजार योजन लम्बा और एक हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई बीस योजन है और उसमें दो योजन लंबा-चौड़ा कमल है।

छठवाँ पुण्डरीक सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा एवं उसकी गहराई दस योजन है और उसमें एक योजन लंबा-चौड़ा कमल है।

तात्पर्य यह है कि पद्म और पुण्डरीक तालाब समान आकारवाले हैं। इसीप्रकार महापद्म और महापुण्डरीक की स्थिति तथा तिगिंछ और केशरी सरोवरों की स्थिति भी समान ही है।

इसप्रकार सुमेरु पर्वत से उत्तर भाग की सम्पूर्ण रचना दक्षिण भाग के समान ही लम्बी-चौड़ी है।

उक्त पद्म, महापद्म, तिगिंछ आदि सरोवरों के कमलों में एक पत्य की स्थितिवाली श्री, ही, धृति आदि देवियाँ सामानिक और पारिषद देवों के साथ रहती हैं।

इसप्रकार पद्म नामक सरोवर के कमल में श्री नामक देवी, महापद्म नामक सरोवर के कमल में ह्री नामक देवी, तिगिंछ नामक सरोवर के कमल में धृति नामक देवी, केशरी नामक सरोवर के कमल में कीर्ति नामक देवी, महापुण्डरीक नामक सरोवर के कमल में बुद्धि नामक देवी एवं पुण्डरीक नामक सरोवर के कमल में लक्ष्मी नामक देवी रहती है।

सामानिक और पारिषद देवों की विशेष चर्चा चौथे अध्याय में कल्पोपन्न देवों के संदर्भ में होगी।

इनमें श्री, ही, धृति हूँ ये देवियाँ सौधर्म इन्द्र की सेवा में रहती हैं एवं कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी हूँ ये देवियाँ ईशान इन्द्र की सेवा में रहती हैं ॥१४-१९॥

गंगा-सिन्धु आदि नदियाँ

हिमवन आदि पर्वतों पर स्थित पद्म आदि सरोवरों से गंगा-सिन्धु आदि १४ नदियाँ निकलती हैं; जो भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं। इनकी स्थिति बतानेवाले सूत्र इसप्रकार हैं ह

गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिक्ान्तासीतासीतोदा-
नारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्म-
ध्यगाः ॥२०॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

भरत क्षेत्र में गंगा-सिन्धु; हैमवत क्षेत्र में रोहित-रोहितास्या; हरिक्षेत्र में हरित-हरिकान्ता; विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा; रम्यक् क्षेत्र में नारी-नरकान्ता; हैरण्यवत क्षेत्र में स्वर्णकूला-रूप्यकूला और ऐरावत क्षेत्र में रक्ता-रक्तोदा ह इसप्रकार सात क्षेत्रों में चौदह नदियाँ बीच में बहती हैं।

हर एक दो के समूह में से पहली नदी पूर्व की ओर बहती है।

बाकी रही सात नदियाँ पश्चिम की ओर जाती हैं।

गंगा और सिन्धु नदियाँ चौदह-चौदह हजार सहायक नदियों से घिरी हुई हैं।

ये गंगा-सिन्धु आदि नदियाँ हिमवन आदि पर्वतों पर स्थित पद्म आदि सरोवरों से निकलती हैं। पद्म नामक सरोवर से गंगा, सिन्धु और रोहितास्या; महापद्म सरोवर से रोहित और हरितकान्ता; तिगिंछ नामक सरोवर से हरित और सीतोदा; केशरी नामक सरोवर से सीता और नरकान्ता; महापुण्डरीक सरोवर से नारी और रूप्यकूला तथा पुण्डरीक नामक सरोवर से स्वर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ निकलती हैं।

भरत क्षेत्र के उत्तर में हिमवन पर्वत है, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में लवण समुद्र है। भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है। वह पूर्व-पश्चिम लम्बा है तथा पच्चीस योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा है।

भूमि से दस योजन ऊपर जाने पर उस विजयार्ध पर्वत के दक्षिण तथा उत्तर में दो श्रेणियाँ हैं, जिनमें विद्याधरों के नगर बसे हुए हैं।

वहाँ से और दस योजन ऊपर जाने पर पर्वत के ऊपर दोनों ओर पुनः दो श्रेणियाँ हैं, जिनमें व्यन्तर देव रहते हैं।

वहाँ से पाँच योजन ऊपर जाने पर विजयार्ध पर्वत का शिखर तल है, जिस पर अनेक कूट बने हुए हैं।

इस पर्वत में दो गुफाएँ हैं, जो आर-पार हैं। हिमवन पर्वत पर स्थित पद्म सरोवर से निकल कर गंगा-सिन्धु नदी इन्हीं गुफाओं की देहली के नीचे से निकलती हुई लवण समुद्र के दक्षिण भाग में मिलती है।

विजयार्ध पर्वत तथा इन दोनों नदियों के कारण ही भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं। तीन खण्ड विजयार्ध के उत्तर में हैं और तीन खण्ड दक्षिण में हैं। दक्षिण के तीन खण्डों के बीच का खण्ड आर्य खण्ड कहलाता है। शेष पाँचों म्लेच्छ खण्ड हैं।

उक्त गुफाओं में से पूर्वदिशावाली खण्डकप्रपात नामक गुफा से चक्रवर्ती उत्तर के तीनों खण्डों को जीतने जाता है और पश्चिमदिशावाली तिमिस्र नामक गुफा से लौटकर वापिस आता है।

इसी से इस पर्वत का नाम विजयार्ध है; क्योंकि इस तक पहुँचने पर चक्रवर्ती की आधी विजय हो जाती है। उत्तर के तीन खण्डों के बीच के खण्ड में वृषभाचल पर्वत है, उस पर चक्रवर्ती अपना नाम उत्कीर्ण कर देता है।

पुराणों में चर्चा आती है कि जब भरत चक्रवर्ती उक्त वृषभाचल पर अपना नाम लिखने गये तो वहाँ रंचमात्र स्थान खाली नहीं था।

तात्पर्य यह है कि अभी तक भरत क्षेत्र में इतने अधिक चक्रवर्ती हो

गये हैं कि भरत चक्रवर्ती को वहाँ अपना नाम लिखने को जगह नहीं मिली। अन्ततोगत्वा भरत ने एक का नाम मिटाकर अपना नाम लिख दिया।

भरत चक्रवर्ती को इस बात का अभिमान था कि मैं भरत क्षेत्र का पहला चक्रवर्ती हूँ; पर यह सब देखकर उनका मान गल गया और वे सोचने लगे कि जब अगला चक्रवर्ती दिग्विजय करता हुआ यहाँ आवेगा तो वह मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिख देगा।

जगह-जगह पट्टियों पर नाम लिखानेवालों को भी कुछ सोचना चाहिए।

भरत क्षेत्र की तरह ही अन्त का ऐरावत क्षेत्र भी है। उसमें भी विजयार्थ पर्वत वगैरह हैं तथा विजयार्थ पर्वत और रक्ता-रक्तोदा नदी के कारण उसके भी छह खण्ड हो गये हैं।

सब क्षेत्रों के बीच में विदेहक्षेत्र है। यह क्षेत्र निषध और नील पर्वत के मध्य स्थित है। वहाँ मनुष्य आत्मध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट करके देह के बंधन से सदा छूटते रहते हैं। इसी से उसका 'विदेह' नाम पड़ा हुआ है। वहाँ हमेशा चौथे काल जैसी स्थिति ही रहती है।

उस विदेह क्षेत्र के बीच में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के पूर्व दिशा वाले भाग को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशावाले भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं।

नील पर्वत से निकलकर सीता नदी पूर्व विदेह के मध्य से होकर बहती है और निषध पर्वत से निकलकर सीतोदा नदी पश्चिम विदेह के मध्य से होकर बहती है। इससे इन नदियों के कारण पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह के भी दो-दो भाग हो गये हैं। इस तरह विदेह के चार भाग हैं।

प्रत्येक भागों में आठ-आठ उप विभाग हैं। यह प्रत्येक उपविभाग एक-एक स्वतंत्र देश है। अतः विदेह क्षेत्र में $८ \times ४ = ३२$ देश हैं, वे सब

विदेह कहलाते हैं। इन देशों में भी छह-छह खण्ड हैं। वे एक-एक देश भरत क्षेत्र के बराबर हैं। वहाँ पर एक देश के एक-एक चक्रवर्ती होते हैं, हो सकते हैं।

सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। जिसमें एक हजार योजन तो पृथ्वी के अन्दर उसकी नींव है और निन्यानवे हजार योजन पृथ्वी के ऊपर उठा हुआ है।

उसके चारों ओर पृथ्वी पर भद्रशाल नाम का वन है। उसमें पाँचसौ योजन ऊपर जाने पर सुमेरु पर्वत के चारों ओर की कटनी पर दूसरा नन्दन वन है।

नन्दन वन से साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाकर पर्वत के चारों ओर की कटनी पर तीसरा सौमनस वन है।

सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पर्वत का शिखर तल है। उसके बीच में चालीस योजन ऊँची चूलिका है और चूलिका के चारों ओर पाण्डुक वन है। इस वन में चारों दिशाओं में पाण्डुक शिला, पाण्डुकम्बल शिला, रक्त शिला और रक्तकम्बल शिला नाम की चार शिलायें हैं।

उन शिलाओं पर भरत क्षेत्र के तीर्थकरों का जन्माभिषेक पाण्डुक शिला पर, पश्चिम विदेह क्षेत्र के तीर्थकरों का जन्माभिषेक पाण्डुकम्बल शिला पर, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरों का जन्माभिषेक रक्त शिला पर और पूर्व विदेह क्षेत्र के तीर्थकरों का जन्माभिषेक रक्तकम्बल शिला पर होता है।

गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा की १४-१४ हजार सहायक नदियाँ हैं, रोहित-रोहितास्या और स्वर्णकूला-रूप्यकूला की २८-२८ हजार सहायक नदियाँ हैं, हरित-हरिकान्ता और नारी-नरकान्ता की ५६-५६ हजार सहायक नदियाँ हैं एवं सीता-सीतोदा की १ लाख १२ हजार सहायक नदियाँ हैं। २०-२३।।

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

अब तक भरतादि क्षेत्रों एवं हिमवन आदि पर्वतों की विविध प्रकार से चर्चा हुई। अब उनके विस्तार की चर्चा करते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह

**भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोन-
विंशतिभागायोजनस्य ॥२४॥**

तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

भरतक्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से ६ भाग अधिक है।

विदेहक्षेत्र तक के पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

विदेह क्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तारवाले हैं।

भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में प्रत्येक का विस्तार पाँच सौ छब्बीस एवं छह बटा उन्नीस ($526^6/19$) योजन है।

हिमवन पर्वत और शिखरिण पर्वत में प्रत्येक का विस्तार एक हजार बावन एवं बारह बटा उन्नीस ($1052^2/19$) योजन है।

हैमवत क्षेत्र और हैरण्यवत क्षेत्र में प्रत्येक का विस्तार दो हजार एक सौ पाँच एवं पाँच बटा नौ ($2105^4/9$) योजन है।

महाहिमवन पर्वत और रुक्मि पर्वत में प्रत्येक का विस्तार चार हजार दो सौ दस एवं दस बटा उन्नीस ($4210^3/19$) योजन है।

हरि क्षेत्र और रम्यक् क्षेत्र में प्रत्येक का विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस एवं एक बटा सत्तरह ($8421^2/17$) योजन है।

निषध पर्वत और नील पर्वत में प्रत्येक का विस्तार सोलह हजार आठ सौ ब्यालीस एवं दो बटा उन्नीस ($16842^2/19$) योजन है।

विदेह क्षेत्र का विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी एवं चार बटा उन्नीस ($33684^8/19$) योजन है।

प्रश्न ह्न क्या क्षेत्र और पर्वत ही दूने-दूने विस्तारवाले हैं या सरोवर, कमल आदि भी दूने-दूने विस्तारवाले हैं।

उत्तर ह्न हाँ, सभी चीजें दूने-दूने विस्तारवाली हैं। जिस क्षेत्र या जिस पर्वत का जो विस्तार है; उस पर होनेवाले सरोवर, कमल आदि का विस्तार भी उसी के अनुसार दूना-दूना समझना चाहिए ॥२४-२६॥

कालचक्र

उक्त क्षेत्रों में काल का परिवर्तन किसप्रकार होता है ? अब आगामी सूत्रों में यह बताते हैं ह

**भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यव-
सर्पिणीभ्याम् ॥२७॥**

ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

**एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैव-
कुरवकाः ॥२९॥**

तथोत्तराः ॥३०॥

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

छह कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के अनुभवादि की वृद्धि-हानि होती रहती है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में एक ही अवस्था रहती है, उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता।

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु के मनुष्य, तिर्यच क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं।

उत्तर के क्षेत्रों में रहनेवाले मनुष्य भी दक्षिण में स्थित हैमवतादि के मनुष्यों के समान आयुवाले होते हैं।

विदेह क्षेत्रों में मनुष्य और तिर्यचों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

भरतक्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ भाग है।

प्रश्न ह भरतक्षेत्र का विस्तार पहले पाँच सौ छब्बीस एवं छह बटा उन्नीस (५२६६/१९) योजन बताया था और अब यहाँ जम्बूद्वीप का

एक सौ नब्बेवाँ (१९०वाँ) भाग बता रहे हैं ह यह भिन्नता क्यों है ?

उत्तर ह दोनों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि १ लाख में १९० का भाग दो तो उत्तर पाँच सौ छब्बीस एवं छह बटा उन्नीस (५२६६/१९) ही आता है। मात्र सरलता के लिए यह सूत्र लिखा गया है।

दूसरी बात यह है कि जहाँ ५२६६/१९ योजन लिखा है, वहाँ भरत क्षेत्र के विस्तार का नाप बताया है और यहाँ जम्बूद्वीप का १९०वाँ भाग लिखकर जम्बूद्वीप के विस्तार से भरतक्षेत्र के विस्तार की तुलना की गई है।

जहाँ उत्सर्पिणी क्रमशः विकास की प्रक्रिया है, वहाँ अवसर्पिणी क्रमशः हास की प्रक्रिया है। उत्सर्पिणी में प्राणियों के बल, आयु और शरीरादि का प्रमाण क्रमशः बढ़ता जाता है और अवसर्पिणी में उसी क्रम से घटता जाता है। इसप्रकार यदि उत्सर्पिणी बढ़ने का नाम है तो अवसर्पिणी घटने का। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों में प्रत्येक का काल दस-दस कोड़ाकोड़ी सागर है।

इसप्रकार कुल मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। प्रत्येक कल्पकाल में तीर्थकरों की दो चौबीसी होती हैं। एक अवसर्पिणी में और एक उत्सर्पिणी में।

अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं ह (१) सुखमा-सुखमा (२) सुखमा (३) सुखमा-दुःखमा (४) दुःखमा-सुखमा (५) दुःखमा (६) दुःखमा-दुःखमा।

इसीप्रकार उत्सर्पिणी भी छह प्रकार का होता है ह (६) दुःखमा-दुःखमा (५) दुःखमा (४) दुःखमा-सुखमा (३) सुखमा-दुःखमा (२) सुखमा (१) सुखमा-सुखमा।

उक्त कालों में सुख-दुःख की स्थिति उनके नामानुसार ही होती है। यहाँ सुख शब्द लौकिक सुख (भोग) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

तृतीय काल तक भोग की ही प्रधानता रहती है, यहाँ तक कि

आध्यात्मिक उन्नति के तो अवसर ही प्राप्त नहीं होते।

पहला काल (सुखमा-सुखमा) चार कोड़ाकोड़ी सागर का है। दूसरा काल (सुखमा) तीन कोड़ाकोड़ी सागर का है। तीसरा काल (सुखमा-दुःखमा) दो कोड़ाकोड़ी सागर का है। चौथा काल (दुःखमा-सुखमा) ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का है। पाँचवाँ काल (दुःखमा) इक्कीस हजार वर्ष का तथा छठवाँ काल (दुःखमा-दुःखमा) भी इक्कीस हजार वर्ष का है।

तीर्थकरों की उत्पत्ति चतुर्थकाल (दुःखमा-सुखमा) में ही होती है और मुक्तिमार्ग भी चतुर्थकाल में ही चलता है। इस दृष्टि से चतुर्थकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

चतुर्थकाल में चौदह कुलकर और त्रेसठ शलाका के महापुरुष होते हैं। त्रेसठ शलाका के महापुरुष निम्नानुसार हैं ह २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र।

वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पंचमकाल चल रहा है। इसमें न तो कुलकर ही होते हैं और न त्रेसठ शलाका महापुरुषों की उत्पत्ति ही होती है। किसी को मुक्ति (मोक्ष) की भी प्राप्ति नहीं होती है। चतुर्थकाल में जो त्रेसठ शलाका के महापुरुष हुए हैं, विशेषकर उनके चरित्रों का वर्णन ही जैनपुराणों का कथ्य है।

इसप्रकार अनन्त कल्पकाल बीत चुके हैं और भविष्य में अनन्त होंगे। तदनुसार तीर्थकरों की अनन्त चौबीसियाँ इस भरत क्षेत्र में हो चुकी हैं और भविष्य में अनन्त और होंगी। ऐसी ही व्यवस्था ऐरावत क्षेत्र की है। विदेह क्षेत्र की व्यवस्था इससे कुछ भिन्न प्रकार की है। वहाँ सदा चतुर्थकाल के आरंभ जैसी स्थिति रहती है।

अभी भरत-ऐरावत क्षेत्र में हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है। असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इस काल में कुछ अनहोनी बातें होती हैं।

यथा ह तृतीय काल में कुलकर व तीर्थकर की उत्पत्ति, तृतीय काल में मुक्ति, तीर्थकरों के उपसर्ग, चक्रवर्ती का मानभंग आदि।

छठवें दुःखमा-दुःखमा काल के अन्त में प्रलयकाल आता है।

सम्पूर्ण आर्यखंड में प्रलय होने पर मनुष्यों के बहत्तर युगल अथवा अनेक मनुष्य शेष रह जाते हैं। ये विजयार्द्ध गुफा में चले जाते हैं। प्रलयकाल में क्रम से सरस, विरस, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, विष और क्षार मेघ सात-सात दिन बरसते हैं। इसप्रकार ४९ दिन तक होता है।

इसप्रकार दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी का काल समाप्त होता है।

इसके बाद (प्रलय के बाद) दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्पसर्पिणी काल प्रारंभ होता है। उसमें सर्वप्रथम दुःखमा-दुःखमा नामक छठवाँ काल रहता है। इसके प्रारंभ में उनचास दिन पर्यन्त रात-दिन क्षीरमेघ बरसते हैं, पुनः उतने ही दिन अमृतमेघ बरसते हैं। पृथ्वी रूक्षता को छोड़ देती है। उन मेघों के माहात्म्य से वर्ण आदि गुण उत्पन्न होता है। औषधि, वृक्ष, गुल्म, तृण आदि सरस हो जाते हैं।

अवसर्पिणी के अन्त समय में जो युगल या अनेक मनुष्य विजयार्द्ध गुफा में प्रविष्ट हुए थे, वे गुफा से निकलकर सरस औषधि और धान्य आदि का सेवन कर अपने जीवन को सहर्ष व्यतीत करते हैं।

ये सब स्थिति भरत और ऐरावत क्षेत्र की है।

दक्षिण में स्थित हैमवत क्षेत्र की और उत्तर में स्थित हैरण्यवत क्षेत्र की स्थिति तीसरे काल (सुखमा-दुःखमा) के समान रहती है। आयु एक पल्य, ऊँचाई दो हजार धनुष, आहार एक दिन के अन्तराल से और शरीर का रंग नील कमल के समान होता है।

दक्षिण में स्थित हरि क्षेत्र में और उत्तर में स्थित रम्यक क्षेत्र की स्थिति दूसरे काल (सुखमा) के समान रहती है। आयु दो पल्य, ऊँचाई चार हजार धनुष, आहार दो दिन के अन्तराल से और शरीर का रंग शंख के समान सफेद होता है।

दक्षिण में स्थित देवकुरु क्षेत्र में और उत्तर में स्थित उत्तर कुरु क्षेत्र की स्थिति पहले काल (सुखमा-सुखमा) के समान रहती है। आयु तीन पल्य, ऊँचाई छह हजार धनुष, आहार तीन दिन के अन्तराल से और शरीर का रंग सोने के समान पीला होता है।

पूर्व एवं पश्चिम विदेह क्षेत्र के ३२ देशों की स्थिति सदा चतुर्थ काल (दुःखमा-सुखमा) के आरंभ के समान रहती है।^१

ऊँचाई पाँच सौ धनुष, प्रतिदिन भोजन करनेवाले, उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व प्रमाण और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

पूर्व के संबंध में सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रन्थ में एक गाथा उद्धृत की गई है; जो इसप्रकार है ह

पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं ।

छप्पणं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥

एक पूर्व का परिमाण (नाप) सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि एक पूर्व सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष का होता है ॥२७-३१॥

१. राजवार्तिक, भाग-१, पृष्ठ ३८८

धातकीखण्ड एवं पुष्करार्द्ध द्वीप

जम्बूद्वीप की चर्चा होने के उपरान्त अब दूसरे द्वीप धातकीखण्ड और तीसरे द्वीप पुष्करार्द्ध की चर्चा करते हैं ह

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

प्राडमानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

धातकीखण्ड नाम के दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी इत्यादि सब पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है।

पुष्करार्द्ध द्वीप में भी सब रचना जम्बूद्वीप की रचना से दूनी-दूनी है।

मानुषोत्तर पर्वत तक अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं, मानुषोत्तर पर्वत से परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नहीं जा सकते।

अपने सिरे से लवणोदधि और कालोदधि नामक समुद्रों को स्पर्श करनेवाले और दक्षिण से उत्तर तक लम्बे इष्वाकार नामक दो पर्वतों से विभक्त होकर धातकीखण्ड द्वीप के दो भाग हो जाते हैं ह पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड।

इन पूर्व और पश्चिम दोनों खण्डों के मध्य में दो मेरु पर्वत हैं। इन दोनों के दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवन आदि पर्वत हैं। इसप्रकार दो भरत दो हिमवन इत्यादि रूप से जम्बूद्वीप से धातकीखण्ड द्वीप में दूनी संख्या जाननी चाहिए।

जम्बूद्वीप में हिमवन आदि पर्वतों का जो विस्तार है, धातकीखण्ड द्वीप में हिमवन आदि पर्वतों का उससे दूना विस्तार है। जम्बूद्वीप में जहाँ जम्बू वृक्ष स्थित है, धातकीखण्डद्वीप में धातकीखण्ड वृक्ष स्थित है। इसके संबंध से द्वीप का नाम धातकीखण्ड प्रसिद्ध है। इसको घेरे हुए कालोदधि समुद्र है; जिसका विस्तार आठ लाख योजन है।

कालोदधि को घेरे हुए पुष्करद्वीप है, जिसका विस्तार सोलह लाख योजन है।

जिसप्रकार धातकीखण्ड द्वीप में हिमवन आदि का विस्तार कहा है; उसीप्रकार पुष्करार्ध में हिमवन आदि का विस्तार दूना बतलाया है। नाम वे ही हैं। दो इष्वाकार और दो मेरु पर्वत पहले के समान जानना चाहिए। जहाँ पर जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है, वहाँ पुष्करद्वीप में पुष्करवृक्ष हैं। इसीलिए इस द्वीप का पुष्करद्वीप यह नाम रूढ़ हुआ है।

ढाई द्वीप और इनके मध्य में आनेवाले दो समुद्र यह मनुष्यलोक है। मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत मनुष्यलोक की सीमा पर स्थित होने से इसका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है।

मनुष्य इसी क्षेत्र में रहते हैं, उनका बाहर जाना सम्भव नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि गर्भ में आने के बाद मरणपर्यन्त औदारिक शरीर या आहारक शरीर के साथ वे इस क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकते।

सम्मूर्च्छन मनुष्य तो औदारिक शरीर के आश्रय से होते हैं, इसलिए उनका मनुष्यलोक के बाहर जाना सम्भव नहीं है।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी भी अवस्था में मनुष्य इस क्षेत्र के बाहर नहीं पाये जाते हैं। ऐसी तीन अवस्थाएँ हैं, जिनके होने पर मनुष्य इस क्षेत्र के भी बाहर पाये जाते हैं।

१. जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीप के बाहर उत्पन्न होनेवाले हैं, वे यदि मरण के पहले मारणान्तिक समुद्घात करते हैं तो इसके द्वारा उनका ढाई द्वीप के बाहर गमन देखा जाता है।

२. ढाई द्वीप के बाहर निवास करनेवाले जो जीव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, उनके मनुष्यायु और मनुष्य गतिनाम कर्म का उदय होने पर भी ढाई द्वीप में प्रवेश करने के पूर्व तक उनका इस क्षेत्र के बाहर अस्तित्व देखा जाता है।

३. केवलिसमुद्घात के समय उनका मनुष्यलोक के बाहर अस्तित्व

देखा जाता है।

इन तीन अपवादों को छोड़कर और किसी अवस्था में मनुष्यों का मनुष्यलोक के बाहर अस्तित्व नहीं देखा जाता।

ढाई द्वीप में पाँच मेरु पर्वत हैं, जिनके नाम सुदर्शन मेरु, विजय मेरु, अचल मेरु, मंदर मेरु और विद्युन्माली मेरु हैं।

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सुदर्शन नामक मेरु है; इसे सुमेरु पर्वत भी कहते हैं।

पूर्व धातकीखण्ड के विदेह क्षेत्र में विजय नामक मेरु है। पश्चिम धातकीखण्ड के विदेह क्षेत्र में अचल नामक मेरु है।

पूर्व पुष्करार्ध के विदेह क्षेत्र में मंदर नामक मेरु है। पश्चिम पुष्करार्ध के विदेह क्षेत्र में विद्युन्माली नामक मेरु है।

इन सबकी वास्तविक स्थिति को निम्नांकित ढाईद्वीप के मानचित्र से भलीभाँति समझा जा सकता है।।३३-३५।।

मनुष्यों के प्रकार

ढाईद्वीप में रहनेवाले मनुष्यों की चर्चा के संदर्भ में अब उनके अनेक प्रकारों की चर्चा करते हैं ह

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

आर्य और म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के हैं।

मनुष्य दो प्रकार के हैं ह आर्य और म्लेच्छ। आर्य मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं ह ऋद्धिधारी और बिना ऋद्धिवाले।

जो आठ प्रकार की चौंसठ ऋद्धियों में से किसी एक या एकाधिक ऋद्धि के धारी होते हैं; उन्हें ऋद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं है, वे बिना ऋद्धिवाले आर्य हैं।

बिना ऋद्धिवाले आर्य पाँच प्रकार के होते हैं ह क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य और दर्शन आर्य।

काशी, कोशल आदि आर्य क्षेत्रों में जन्म लेनेवाले मनुष्य क्षेत्र आर्य हैं।

इक्ष्वाकु, भोज आदि वंशों में जन्म लेनेवाले मनुष्य जाति आर्य हैं।

कर्म आर्य तीन प्रकार के होते हैं ह सावद्यकर्म आर्य, अल्प सावद्यकर्म आर्य और असावद्य कर्म आर्य।

सावद्य कर्म आर्य छह प्रकार के होते हैं ह

१. जो तलवार आदि अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा रक्षा अथवा युद्ध आदि करने की जीविका करते हैं, वे **असिकर्म आर्य** हैं।

२. जो आय-व्यय आदि लिखने की आजीविका करते हैं, वे **मसिकर्म आर्य** हैं।

३. जो खेती के द्वारा आजीविका करते हैं, वे **कृषिकर्म आर्य** हैं।

४. जो विविध कलाओं में प्रवीण हैं और उनसे ही आजीविका

करते हैं, वे **विद्याकर्म आर्य** हैं।

५. धोबी, नाई, कुम्हार, लुहार, सुनार वगैरह **शिल्पकर्म आर्य** हैं।

६. वणिज/व्यापार करनेवाले **वणिक् कर्म आर्य** हैं।

ये छहों सावद्य कर्म आर्य होते हैं। उनमें जो अणुव्रती श्रावक होते हैं, वे अल्प सावद्य कर्म आर्य होते हैं और पूर्ण संयमी साधु **असावद्य कर्म आर्य** हैं।

चारित्र आर्य दो प्रकार के होते हैं ह

१. जो बिना उपदेश के स्वयं ही चारित्र का पालन करते हैं।

२. जो पर के उपदेश से चारित्र का पालन करते हैं।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शन आर्य हैं।

म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं ह १. अन्तर्द्वीपज और २. कर्मभूमिज।

१. लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र के भीतर जो छ्यानवे द्वीप हैं, उनके वासी मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। उनकी आकृति आहार-विहार सभी असंस्कृत होता है।

२. म्लेच्छ खण्डों के अधिवासी मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ कहे जाते हैं।

कर्मभूमि और भोगभूमि

अब अढाईद्वीप में कर्मभूमियाँ और भोगभूमियाँ कहाँ-कहाँ हैं ह यह स्पष्ट करते हैं।

**भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तर-
कुरुभ्यः ॥३७॥**

पाँच मेरु संबंधी पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ह इन दोनों को छोड़कर पाँच विदेह ह इसप्रकार ढाईद्वीप में कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

जहाँ शुभाशुभ कर्मों को करने की और कर्मों का नाश करने की प्रधानता हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं।

कर्मभूमि के जीव पाप का उत्कृष्ट पुरुषार्थ करें तो सातवें नरक तक जा सकते हैं। पुण्य का उत्कृष्ट पुरुषार्थ करें तो सर्वार्थसिद्धि में जा सकते हैं और कर्म के नाश का पुरुषार्थ करें तो मोक्ष भी जा सकते हैं।

चारों गतियों के और पंचमगति मोक्ष का रास्ता इन कर्मभूमियों से खुलता है।

भोगभूमि में कर्म की नहीं भोगने की प्रधानता होती है। वहाँ आजीविका के लिए कुछ करना नहीं पड़ता; सबकुछ भोग सामग्री कल्पवृक्षों से उपलब्ध हो जाती है। भोगभूमि के जीव मरकर नियम से देवगति में ही जाते हैं। न तो वे नरकादि गतियों में जाते हैं और न मोक्ष में।

ढाईद्वीप में ये कर्मभूमियाँ १५ और भोगभूमियाँ ३० हैं।

पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर ५ विदेह ह ये १५ कर्मभूमियाँ हैं।

जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर एक विदेह ह ये तीन।

धातकीखण्डद्वीप में दो भरत, दो ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर दो विदेह ह ये छह।

पुष्करार्ध में दो भरत, दो ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर दो विदेह ह ये छह।

इसप्रकार ये १५ कर्मभूमियाँ हैं।

देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक और हैरण्यवत ह ये भोगभूमियाँ कही जाती हैं।

जम्बूद्वीप में एक हैमवत, एक हरि, एक रम्यक, एक हैरण्यवत एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु ह ये छह।

धातकीखण्डद्वीप में दो हैमवत, दो हरि, दो रम्यक, दो हैरण्यवत दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु ह ये बारह।

पुष्करार्द्धद्वीप में दो हैमवत, दो हरि, दो रम्यक, दो हैरण्यवत दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु ह ये बारह।

इसप्रकार ये ३० भोगभूमियाँ हैं।

इसप्रकार ढाईद्वीप में १५ कर्मभूमियाँ और ३० भोगभूमियाँ ह कुल ४५ भूमियाँ हैं ॥३७॥

मनुष्य और तिर्यचों की स्थिति

अब अध्याय के अन्त में मनुष्य और तिर्यचों की आयुर्कर्म की स्थिति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त की है।

मनुष्यों की स्थिति के समान ही तिर्यचों की भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है।

पल्यों का स्वरूप सागर के स्वरूप के साथ स्पष्ट किया जा चुका है।

पल्य तीन प्रकार के होते हैं ह व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धारपल्य।

इन तीन पल्यों में से पहला व्यवहारपल्य तो केवल दो पल्यों के निर्माण का मूल है, उसी के आधार पर उद्धारपल्य और अद्धारपल्य बनते हैं। इसी से इसे व्यवहारपल्य का नाम दिया गया है।

उद्धारपल्य के रोमों के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या गिनी जाती है और अद्धारपल्य के द्वारा नारकियों की, तिर्यचों की, देवों और मनुष्यों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है।

उक्त सूत्रों में मनुष्य और तिर्यचों की आयु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की कही गई है। उसमें पल्य के रूप में अद्धारपल्य को जानना चाहिए।

दस कोड़ाकोड़ी अद्धारपल्य का एक अद्धार सागर होता है और दस अद्धार सागर का एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल होता है।

तिर्यच तीन प्रकार के होते हैं ह एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और

पंचेन्द्रिय।

एकेन्द्रियों में शुद्ध पृथिवीकायिक जीवों की आयु बारह हजार वर्ष होती है और खर पृथिवीकाय की आयु बाईस हजार वर्ष होती है।

जलकायिक जीवों की आयु सात हजार वर्ष, वायुकायिक की तीन हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक की दस हजार वर्ष उत्कृष्ट आयु होती है। अग्निकायिक की आयु तीन दिन-रात होती है।

विकलेन्द्रियों में, दो इन्द्रियों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष, तेइन्द्रियों की उनचास रात-दिन और चौइन्द्रियों की छह मास होती है।

पंचेन्द्रियों में जलचर जीवों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि, नकुल वगैरह की नौ पूर्वांग, सर्पों की बयालीस हजार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष और चौपायों की तीन पल्य होती है तथा सभी की जघन्य आयु एक अंतर्मुहूर्त की होती है।

इसप्रकार इस तीसरे अध्याय में नारकी, मनुष्य और तिर्यचों तथा कुछ देवों के रहने के स्थान आदि की चर्चा हुई। इसी प्रसंग में अधोलोक और मध्यलोक (तिर्यग लोक) की भी चर्चा हुई ॥३८-३९॥

चौथा अध्याय

ऊर्ध्वलोक

चतुर्गति के जीव कहाँ-कहाँ रहते हैं ? ह्व इस संदर्भ में तीसरे अध्याय में तीन लोक की चर्चा आरंभ हुई थी; क्योंकि एक आकाश (अलोकाकाश) को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य तो लोकाकाश में ही रहते हैं। लोकाकाश तीन लोकों में विभाजित है।

नारकी अधोलोक में रहते हैं और मनुष्य मध्यलोक में; किन्तु तिर्यच और देव तीनों लोकों में पाये जाते हैं। निगोदिया जीव भी तिर्यच ही हैं और वे सर्वत्र पाये ही जाते हैं।

देवों में भी कुछ व्यन्तर और भवनवासी प्रथम नरक के खर और पंक भाग के रूप में अधोलोक में तथा कुछ व्यन्तर मध्यलोक में रहते हैं।

ज्योतिषी तो मध्यलोक में रहते ही हैं। एक वैमानिकदेव ही है; जो ऊर्ध्वलोक में रहते हैं, स्वर्गों में रहते हैं।

अधोलोक और मध्यलोक की चर्चा तीसरे अध्याय में हो चुकी है। यद्यपि अब ऊर्ध्वलोक की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; तथापि अभी देवगति के जीवों की चर्चा भी बहुत कुछ शेष है; अतः सर्वप्रथम देवों की चर्चा आरंभ करते हैं।

देवगति

अब दिव्य भोगों को भोगनेवाले देवों की चर्चा करते हैं ह्व

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

देवों के चार निकाय होते हैं अथवा देव चार निकायवाले हैं।

आरंभ के तीन निकायों में पीत अन्त में जिनके ऐसी चार लेश्यायें होती हैं। तात्पर्य यह है कि भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियों में कृष्ण, नील, कापोत और पीत ह्व ये चार लेश्यायें होती हैं।

किसी भी वस्तु के समूह को काय कहते हैं और कार्यों के समूह को निकाय कहते हैं। यहाँ देवों के समूहों के समूहों की चर्चा है; अतः उन्हें चार निकायवाला कहा है।

देवगति नामकर्म के उदय से जो अनेक प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप-समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं; वे देव कहलाते हैं।

वे देव चार प्रकार के होते हैं ह्व भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। ये लेश्यायें छह प्रकार की होती हैं; जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं ह्व

१. कृष्ण, २. नील, ३. कापोत, ४. पीत, ५. पद्म और ६. शुक्ल।

द्रव्य लेश्या तो नामानुसार ही होती है। तात्पर्य यह है कि वर्ण की अपेक्षा कृष्ण लेश्यावालों के शरीर का रंग भोरें के समान काला, नील लेश्यावालों का रंग नीलमणि के समान नीला, कापोत लेश्यावालों का रंग कबूतर के समान सलेटी, पीत लेश्यावालों का रंग स्वर्ण के समान पीला अथवा सुनहरी, पद्मलेश्यावालों का रंग कमल के समान और शुक्ल लेश्यावालों का रंग शंख के समान सफेद होता है।

भाव लेश्या संक्लेश और विशुद्ध परिणामों का तारतम्यरूप है।

कृष्ण, नील और कापोत हूँ ये तीन लेश्यायें अशुभभावरूप हैं, संक्लेश परिणाम के तारतम्यरूप हैं।

पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें शुभभावरूप हैं, विशुद्ध परिणाम के तारतम्यरूप हैं।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण लेश्या अशुभतम संक्लेशरूप है, नील लेश्या अशुभतर संक्लेशरूप है और कापोत लेश्या अशुभ संक्लेशरूप है।

इसीप्रकार पीत लेश्या शुभ विशुद्धभावरूप है, पद्म लेश्या शुभतर विशुद्धभावरूप है और शुक्ल लेश्या शुभतम विशुद्धभावरूप है।

इन लेश्याओं के स्वरूप को हम निम्नांकित उदाहरण से समझ सकते हैं हूँ

छह व्यक्ति एक जंगल में भटक जाते हैं। भूखे-प्यासे वे लोग पके हुए जामुनों से लदे वृक्ष को देखकर इसप्रकार सोचते हैं हूँ

कृष्ण लेश्या के अशुभतम परिणामोंवाला सोचता है कि मैं इस पेड़ को जड़ से उखाड़ कर इसके फल खाऊँगा, नील लेश्या के अशुभतर परिणामोंवाला सोचता है कि मैं तने को काट कर अपना पेट भरूँगा, कापोत लेश्या के अशुभ परिणामोंवाला सोचता है कि नहीं मैं तो डालियों को काटकर अपना पेट भर लूँगा।

शुभभावरूप पीत लेश्यावाला सोचता है कि मैं तो टहनियों को तोड़कर अपनी भूख मिटा लूँगा, शुभतर पद्म लेश्यावाला सोचता है कि मैं तो मात्र पके-पके फल ही तोड़ूँगा; पर शुभतम शुक्ल लेश्यावाला सोचता है कि मैं तो स्वयं ही टूटे हुए जमीन पर पड़े फलों से ही अपना काम चला लूँगा।

ध्यान रहे पेट तो सभी को भरना है, भूख तो सभी को मिटाना है; पर उनके परिणामों में जो अन्तर है, वही लेश्याओं के स्वरूप में अंतर है।

नोट हूँ लेश्याओं वाले वृक्ष का चित्र लगाना है।

ध्यान रहे आरंभ की तीन निकायवाले भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की पर्याप्त अवस्था में तो एकमात्र पीत लेश्या ही होती है, किन्तु अपर्याप्त अवस्था में आरंभ की चार लेश्यायें तक पाई जा सकती हैं ॥१-२॥

देवों के इन्द्र-सामानिक आदि दश भेद

भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों के अवान्तर भेद भी होते हैं। तथा जिसप्रकार मनुष्यों में व्यवस्था की दृष्टि से राजा, मंत्री, सेनापति, सेना, पुलिस आदि भेद होते हैं; उसीप्रकार देवों में भी इसप्रकार के भेद पाये जाते हैं। अब उनकी चर्चा करते हैं ह

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

**इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानी-
कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥४॥**

कल्पोपन्न देवों तक चार निकायों के क्रमशः दश, आठ, पाँच और बारह भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि भवनवासी देव दश प्रकार के, व्यन्तरदेव आठ प्रकार के, ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के और कल्पवासी देव बारह प्रकार के होते हैं।

इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक ह्व ये दश प्रकार हैं।

भवनवासी आदि के अवान्तर भेदों की चर्चा नाम सहित आगे के सूत्रों में पृथक् से होगी।

अतः अब यहाँ इन्द्रादि दश प्रकारों की चर्चा करते हैं ह

१. जो अन्य देवों में नहीं पाये जानेवाले असाधारण गुणों से शोभित होते हैं; जिनकी आज्ञा चलती है और जो ऐश्वर्यवाले हैं; वे इन्द्र हैं।

२. आज्ञा और ऐश्वर्य को छोड़कर जो स्थान, आयु, वीर्य, परिवार और भोगोपभोग आदि में इन्द्रों के समान हैं; उन्हें सामानिक कहते हैं। ये लोग राजा के पिता, गुरुओं और उपाध्यायों के समान होते हैं।

३. जो मंत्री और पुरोहितों के समान हित चेतानेवाले होते हैं; वे त्रायस्त्रिंश हैं। ये तैत्तिरीय ही होते हैं; इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।

४. जो इन्द्रसभा में मित्रों और स्नेहीजनों के समान बैठते हों; वे पारिषद हैं। ये इन्द्र की सभा के सदस्य हैं।

५. जो अंगरक्षकों के समान हों, वे आत्मरक्ष कहलाते हैं।

६. जो अर्थचरों (सवेतनिक पुलिस कर्मचारी) के समान रक्षक हैं; वे लोक का पालन करनेवाले लोकपाल हैं।

७. जो पदाति (पैदल) घुड़सवार आदि सात प्रकार की सेना के समान होते हैं; वे अनीक कहे जाते हैं।

८. जो नागरिकों के समान फैले हुए रहते हैं; वे प्रकीर्णक हैं।

९. जो दासों के समान वाहन (ऐरावत हाथी) आदि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं; वे आभियोग्य हैं।

१०. पापकर्मों की बहुलतावाले किल्बिषिक कहलाते हैं ॥४॥

अपवाद नियम

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ये दश प्रकार के भेद भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक ह्व सभी में होते हैं कि इसमें कुछ अपवाद भी हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में आगामी सूत्रों का जन्म हुआ है; जो इसप्रकार हैं ह

त्रायस्त्रिंशलोकपालवज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

व्यन्तरों और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते; उनके शेष इन्द्रादि आठ प्रकार होते हैं।

पहले के दो निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पहले के दो निकायों अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरों के सभी प्रकारों में दो-दो इन्द्र होते हैं। इसप्रकार भवनवासियों में बीस (२०) और व्यन्तरों में सोलह (१६) इन्द्र होते हैं।

उनका विवरण इसप्रकार है ह

भवनवासियों में असुरकुमारों के चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र होते हैं। नागकुमारों के धरण और भूतानन्द ये दो इन्द्र हैं।

विद्युत्कुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त ये दो इन्द्र हैं। सुपर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं।

अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाणव ये दो इन्द्र हैं। उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं।

दीपकुमारों के पूर्ण और विशिष्ट ये दो इन्द्र हैं तथा दिक्कुमारों के अमित गति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं।

व्यन्तरों में भी किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र हैं। किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष ये दो इन्द्र हैं।

महोरगों के अतिकाय और महाकाय ये दो इन्द्र हैं। गन्धर्वों के

गीतरति और गीतयश ये दो इन्द्र हैं। यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र ये दो इन्द्र हैं।

राक्षसों के भीम और महाभीम ये दो इन्द्र हैं। भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इन्द्र हैं तथा पिशाचों के काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं ॥५-६॥

देवों के लौकिक सुख

इन देवों के स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख किसप्रकार होता है ? ह आगामी सूत्रों में यह बताते हैं ।

काय प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

ईशान स्वर्ग तक कायप्रविचार ही होता है ।

उसके आगे शेष स्वर्गों में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और मन से प्रविचार होता है । इनके अतिरिक्त ऊपर के अहमिन्द्रों में प्रविचार होता ही नहीं है ।

मैथुन सेवन की क्रिया को प्रविचार कहते हैं । ईशान नामक दूसरे स्वर्ग तक काय से प्रविचार होता है ।

तात्पर्य यह है कि भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों के तथा कल्पवासी देवों में सौधर्म और ईशान ह इन दो स्वर्गों में; मनुष्यों के समान शारीरिक क्रियारूप मैथुन सुख होता है, स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख होता है ।

सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव; देवांगनाओं के स्पर्श मात्र से परम प्रीति को प्राप्त होते हैं और इसीप्रकार वहाँ की देवियाँ भी देवों के स्पर्श मात्र से संतुष्ट हो जाती हैं ।

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव; देवांगनाओं के शृंगार, आकृति, विलास, चतुराई और मनोज्ञ वेष तथा मनोज्ञ रूप के देखनेमात्र से ही परम सुख को प्राप्त होते हैं ।

शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव; देवांगनाओं के मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित कथन और भूषणों के कोमल शब्दों के सुननेमात्र से ही परम प्रीति को प्राप्त होते हैं ।

तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव; अपनी अंगनाओं का मन में संकल्प करने मात्र से ही परम सुख को प्राप्त होते हैं ।

इसके ऊपर के कल्पातीत देवों के प्रविचार क्रिया होती ही नहीं है । तात्पर्य यह है कि सोलह स्वर्गों के ऊपर नव ग्रैवेयकों, नव अनुदिशों और पाँच अनुत्तर विमानों के अहमिन्द्रों के मन में भी स्पर्शन इन्द्रियजन्य विषय की कामना उत्पन्न नहीं होती है । वासनाजन्य पीड़ा के अभाव से वे सहज ही सुखी हैं ॥७-९॥

भवनवासी और व्यन्तर देवों के प्रकार

अब दश प्रकार के भवनवासी और आठ प्रकार के व्यन्तरों के प्रकार गिनाते हैं; जो इसप्रकार हैं ह

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितो-
दधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूत-
पिशाचाः ॥११॥

भवनवासी देव दस प्रकार के हैं ह असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

व्यन्तरदेव आठ प्रकार के हैं ह किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

जिनका स्वभाव भवनों में वास करने का विशेष हो, वे भवनवासी हैं। इन भवनवासियों के सभी भेदों में कुमार शब्द लगा है; क्योंकि इनका स्वभाव वेशभूषा, वाहन, यान और क्रीड़ा आदि में कुमारों के समान होता है। जिसप्रकार की चंचलता मनुष्यों में कुमारावस्था में पाई जाती है; उसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ उनमें जीवनभर पाई जाती हैं। यही कारण है कि उनके नामों में कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है।

यह तो पहले बताया ही जा चुका है कि इनमें से असुरकुमारों के भवन अधोलोक की रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकबहुल भाग में हैं और शेष नौ प्रकारों के भवन खरभाग में है।

इसीप्रकार विभिन्न स्थानों पर रहने के कारण इन्हें व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तरों के रहने के स्थानों के बारे में बताया जा चुका है ॥१०-११॥

ज्योतिषियों के प्रकार

भवनवासी और व्यन्तरों के प्रकार स्पष्ट हो जाने के बाद अब ज्योतिषियों के प्रकार बताते हैं ह

ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च
॥१२॥

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के होते हैं ह सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और सर्वत्र फैले हुए तारे।

ये ज्योतिषी देव मनुष्यलोक (मध्य लोक के ढाईद्वीप) में मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए निरन्तर गति करते रहते हैं, घूमते रहते हैं।

काल का विभाग इन ज्योतिषी देवों के गमन के आधार पर ही होता है।

ढाईद्वीप के बाहर ये ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

इनके आवास के संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रंथ में एक गाथा उद्धृत करते हैं, जो इसप्रकार है ह

णउदुत्तरसत्तसया दससीदी चदुगं तियचउक्कं।

तारारविससिरिक्खा बृहभग्गवगुरुअंगिरारसणी ॥

इस पृथिवी-तल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारा हैं। ताराओं के दस योजन ऊपर सूर्य हैं। सूर्य के अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा हैं।

चन्द्रमा के चार योजन ऊपर नक्षत्र और नक्षत्रों के चार योजन ऊपर बुध हैं।

बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र हैं। शुक्र से तीन योजन ऊपर बृहस्पति हैं। बृहस्पति से तीन योजन ऊपर मंगल हैं और मंगल से तीन योजन ऊपर शनि हैं।

उक्त कथन आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका के आधार से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य अकलंकदेव कृत राजवार्तिक में इससे कुछ हटकर बात है; जो इसप्रकार है ह

इस भूमितल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर ज्योतिर्मण्डल में सबसे नीचे तारागण हैं। उससे दश योजन ऊपर सूर्य, उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा, उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्र, उससे तीन योजन ऊपर बुध, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे चार योजन ऊपर मंगल और उससे चार योजन ऊपर शनैश्चर हैं।

इसीप्रकार का अन्तर दोनों में उद्धृत गाथाओं में भी है।

एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ भी इसप्रकार का अन्तर हमें दिखाई दिया है; वहाँ हमने सर्वार्थसिद्धि के कथन को मुख्यता प्रदान कर उसका ही उल्लेख किया है।

इसतरह एक सौ दस योजन की मोटाई में सब ज्योतिषी देव रहते हैं तथा तिर्यक् रूप से घनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं।

इनमें चन्द्रमा इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र हैं।

ये ज्योतिषी देव मनुष्य लोक में अर्थात् ढाईद्वीप में मेरु पर्वतों से ग्यारह सौ इक्कीस (११२१) योजन दूर रहकर उसके चारों ओर निरन्तर घूमते रहते हैं। जम्बूद्वीप में दो, लवण समुद्र में चार, धातकीखण्डद्वीप में बारह, कालोदधि समुद्र में ब्यालीस और पुष्करार्द्ध में बहत्तर चन्द्रमा हैं। इसप्रकार ढाईद्वीप में एक सौ बत्तीस चन्द्रमा हैं।

एक चन्द्रमा के परिवार में एक सूर्य, अठासी ग्रह, अट्ठाईस नक्षत्र और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।

काल दो प्रकार का होता है ह १. निश्चय काल और २. व्यवहार काल। घड़ी, मुहूर्त, दिन-रात, पक्ष-मास, वर्ष आदि को व्यवहार काल कहते हैं। इस व्यवहार काल का व्यवहार इन चन्द्रमा-सूर्य की गति से होता है। दिन और रात सूर्य की गति से तथा पक्ष और मास चन्द्रमा की गति से सुनिश्चित होते हैं ॥१२-१५॥

ऊर्ध्वलोक/वैमानिक देव

अधोलोक और मध्यलोक की एवं भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की चर्चा होने के उपरान्त अब ऊर्ध्वलोक और वैमानिक देवों की चर्चा आरंभ करते हैं।

वैमानिक देवों के स्वरूप को बतानेवाले कुछ सूत्र इसप्रकार हैं ह
वैमानिकाः ॥१६॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

उपर्युपरि ॥१८॥

सौधमैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तव -
कापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरार -
णाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु
सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

यद्यपि रहने के स्थान को तो घर ही कहते हैं; तथापि लोक में भगवान के रहने के स्थान को मंदिर, राजा के रहने के स्थान को महल, सेठ के रहने के स्थान को कोठी, साहब के रहने के स्थान को बंगला और गरीबों के रहने के स्थान को झोपड़ी कहा जाता है; उसीप्रकार पुण्यशाली प्रभावक देवों के रहने के स्थान को विमान कहते हैं।

उक्त विमानों में रहनेवाले देवों को वैमानिक देव कहते हैं।

यहाँ से वैमानिक देवों का वर्णन आरंभ होता है। सोलहवाँ सूत्र मात्र इतनी बात ही बताता है।

वे वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं ह

१. कल्पोपन्न और २. कल्पातीत।

जहाँ इन्द्र सामानिक आदि की कल्पना होती है; उन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं और जहाँ इसप्रकार की कल्पना या भेद नहीं है, सभी एक समान ही हैं, सभी अहमिन्द्र ही हैं; उन नव ग्रैवेयक, नव

अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों को कल्पातीत कहते हैं।

ये सोलह स्वर्ग और नव ग्रैवेयक आदि सभी ऊपर-ऊपर हैं।

सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार ह्व इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में; आनत-प्राणत ह्व इन दो स्वर्गों में; आरण-अच्युत ह्व इन दो स्वर्गों में; नव ग्रैवेयक विमानों में; नव अनुदिश विमानों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि ह्व इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

प्रश्न ह्व इन्द्रादि के भेद तो भवनवासी आदि में भी हैं; अतः उन्हें कल्पोपन्न क्यों नहीं कहते ?

उत्तर ह्व यद्यपि यह सत्य है कि भवनवासी आदि में इन्द्रादिक भेद होते हैं; तथापि रूढि से सोलह स्वर्गवाले वैमानिक देवों को ही कल्पवासी कहते हैं।

जिसप्रकार अधोलोक में सब एक-दूसरे के नीचे-नीचे हैं। जैसे रत्नप्रभा पृथिवी के नीचे शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभा के नीचे पंकप्रभा आदि हैं, इसलिए वहाँ सूत्र में अधोधः का प्रयोग किया गया है।

उसीप्रकार स्वर्गों में सब ऊपर-ऊपर हैं। मध्यलोक में सब तिरछे बसे हुए हैं और एक द्वीप को एक समुद्र घेरे हुए है और एक समुद्र को एक द्वीप घेरे हुए है। तीन लोक और ढाईद्वीप के नक्शे को देखकर यह बात आसानी से समझी जा सकती है।

जिसप्रकार नरकों में बिल तीन प्रकार के होते हैं ह्व इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक। उसीप्रकार स्वर्गों में विमान भी तीन प्रकार के होते हैं; उनके नाम भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक है।

जो विमान इन्द्रक बिल की तरह अन्य विमानों के बीच में रहता है, उसे इन्द्रक विमान कहते हैं। उसकी चारों दिशाओं में कतारबद्ध जो विमान होते हैं, वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं और विदिशाओं में जहा-तहाँ बिखरे फूलों की तरह जो विमान होते हैं, उन्हें पुष्पप्रकीर्णक विमान

कहते हैं।

सर्वप्रथम सौधर्म और ऐशान कल्प (स्वर्ग) हैं। इनके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प हैं। इनके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प हैं। इनके ऊपर लान्तव और कापिष्ठ कल्प हैं। इनके ऊपर शुक्र और महाशुक्र कल्प हैं। इनके ऊपर शतार और सहस्रार कल्प हैं। इनके ऊपर आनत और प्राणत कल्प हैं। इनके ऊपर आरण और अच्युत कल्प हैं।

ध्यान रहे कल्प (स्वर्ग) सोलह हैं और इन्द्र बारह। उनकी व्यवस्था इसप्रकार है ह्व

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र ह्व इन चार कल्पों के चार इन्द्र हैं।

ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पों का एक ब्रह्म नामक इन्द्र है। लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पों में एक लान्तव नाम का इन्द्र है। शुक्र और महाशुक्र में एक शुक्र नाम का इन्द्र है। शतार और सहस्रार इन दो कल्पों में एक शतार नाम का इन्द्र है।

तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ह्व इन चार कल्पों के चार इन्द्र हैं।

इसप्रकार कल्पवासियों के बारह इन्द्र होते हैं।

सुमेरु पर्वत एक हजार योजन पृथ्वी भीतर गहरा है और निन्यानबे हजार योजन ऊँचा है। उसके नीचे अधोलोक है। मेरु पर्वत की जितनी ऊँचाई है, उतना मोटा और तिरछा फैला हुआ तिर्यग्लोक है। उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, सुमेरु पर्वत से एक बाल के अन्तर से ऋजुविमान है, जो सौधर्म कल्प का इन्द्रक विमान है।

यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि जो कल्पों (स्वर्गों) के नाम हैं, वही नाम इन्द्रों के भी हैं। जहाँ दो कल्पों में एक इन्द्र है; वहाँ उनमें जो प्रथम स्वर्ग नाम है, वही इन्द्र का नाम है।

जिसप्रकार कल्पों के विमान दो-दो के जोड़े से हैं; उसीप्रकार कल्पातीत नव ग्रैवेयक के विमान तीन-तीन के जोड़े से हैं अर्थात् सबसे पहले अधो ग्रैवेयक के तीन विमान, उसके ऊपर मध्य ग्रैवेयक के तीन विमान, उसके ऊपर ऊर्ध्व ग्रैवेयक के तीन विमान हैं।

उसके ऊपर अनुदिश विमानों में सभी विमान एक-एक के ऊपर एक-एक हैं और अनुत्तर विमानों में सबसे बीच में सर्वार्थसिद्धि नामक विमान है और उसकी चारों दिशाओं में शेष चार अनुत्तर विमान (विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित) हैं ॥१६-१९॥

वैमानिक देवों में हीनाधिकता

वैमानिक देवों में नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में क्रमशः कुछ चीजों में अधिकता और कुछ चीजों में हीनता होती है। अब यह दिखाते हैं; जो इसप्रकार है ह

**स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-
विषयतोऽधिकाः ॥२०॥**

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

वैमानिक देवों में स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषय की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव अधिक हैं।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन हैं।

वैमानिक देवों में नीचे के देवों से ऊपर के देवों की आयु अधिक होती है, प्रभाव अधिक होता है, लौकिक सुख अनुकूलता भी अधिक होती है, शरीरादिक की कान्ति भी उत्कृष्ट होती है, कषायें मन्द होने से लेश्याओं की विशुद्धि भी अधिक होती है तथा पाँच इन्द्रियों और अवधिज्ञान से जानने का विषय भी अधिक होता जाता है।

आवागमन, शरीर की ऊँचाई, भोगसामग्रीरूप परिग्रह और अभिमान नीचे से ऊपर के देवों में क्रमशः कम होता जाता है।

यद्यपि ऊपर के देवों में नीचे के देवों की अपेक्षा आवागमन की शक्ति अधिक होती है; तथापि विषयाभिलाषा कम होने से उनका आवागमन कम होता है। शरीर की ऊँचाई भी क्रमशः कम होती जाती है, जो इसप्रकार है ह

सौधर्म-ऐशान के देवों का शरीर सात अरत्नि (हाथ) ऊँचा है। सानत्कुमार, माहेन्द्र में छह अरत्नि (हाथ) ऊँचा है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ में पाँच अरत्नि ऊँचा है।

शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में चार अरत्नि ऊँचा है। आनत, प्राणत में साढे तीन अरत्नि और आरण, अच्युत में तीन अरत्नि ऊँचा है।

अधो ग्रैवेयकों में अढाई अरत्नि, मध्य ग्रैवेयक में दो अरत्नि और उपरिम ग्रैवेयकों में तथा नौ अनुदिशों में डेढ अरत्नि ऊँचा है और पाँच अनुत्तरों में एक अरत्नि ऊँचा शरीर है।

विमान आदि परिग्रह भी ऊपर-ऊपर कम है। कषाय की मंदता होने से ऊपर-ऊपर अभिमान भी कम है; क्योंकि जिनकी कषाय मंद होती है, वे ही जीव ऊपर-ऊपर के कल्पों में जन्म लेते हैं।

तथा नीचे से ऊपर के देवों की भोगसामग्री भी कम ही होती है; क्योंकि विषयाभिलाषा भी ऊपर-ऊपर कम होती जाती है। नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में अभिमान भी कम होता जाता है ॥२०-२१॥

वैमानिक देवों में लेश्यायें

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में होनेवाली लेश्याओं का वर्णन दूसरे सूत्र में किया जा चुका है।

अब आगामी सूत्र में वैमानिक देवों में होनेवाली लेश्याओं का वर्णन करते हैं ह

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो, तीन कल्प युगलों में तथा शेष वैमानिकों में क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें होती हैं।

तात्पर्य यह है कि सौधर्म-ऐशान तथा सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प (स्वर्ग) में पीत लेश्या; ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ और शुक्र-महाशुक्र कल्प में पद्म लेश्या तथा इसके ऊपर के कल्पों अर्थात् शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पों में तथा कल्पातीत विमानों अर्थात् नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों में शुक्ललेश्या होती है।

यह कथन सूत्र अनुसार सामान्य कथन है; यदि विशेष कथन की अपेक्षा देखें तो वह इसप्रकार है ह

सौधर्म और ऐशान कल्प में पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में पीत और पद्म लेश्याएँ हैं। ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पों में पद्म लेश्या है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्प में पद्म और शुक्ल ये दो लेश्याएँ हैं।^१

कल्प का स्वरूप

यहाँ कल्प शब्द बार-बार आ रहा है; अतः अब कल्प का स्वरूप कहते हैं ह

प्राग्गैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

गैवेयकों से पहले के वैमानिक देवों के आवास कल्प कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि वैमानिक देवों के आवासों में पहले स्वर्ग से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक विमान कल्प कहलाते हैं और उनमें रहनेवाले वैमानिक देव कल्पवासी कहे जाते हैं।

सोलह स्वर्ग से ऊपर के अर्थात् नव गैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर या उनमें रहनेवाले देव कल्पातीत हैं।

लौकान्तिक देव

संपूर्ण वैमानिकों का कथन हुआ। अब यह नहीं आया कि लौकान्तिक देव कहाँ रहते हैं; क्योंकि लौकान्तिक देव भी तो वैमानिक हैं। इस शंका के समाधान में आगामी सूत्र आये हैं ह

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

**सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधा-
रिष्टाश्च ॥२५॥**

ब्रह्मलोक नाम का पाँचवाँ कल्प है आवास जिनका, उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अनिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं।

तात्पर्य यह है कि लौकान्तिक देव ब्रह्म नामक पंचम स्वर्ग के अंतिम भाग में रहते हैं, इसलिए उन्हें लौकान्तिक देव कहा जाता है।

दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जिनके संसार समुद्र का किनारा अत्यन्त निकट आ गया है, वे लौकान्तिक देव हैं; क्योंकि वे वहाँ से आकर मनुष्य पर्याय प्राप्त कर उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं।

ये लौकान्तिक देव ब्रह्मचारी होते हैं। अत्यन्त वैराग्य प्रवृत्ति के होते हैं। विषयविरक्त होने से देवर्षि कहे जाते हैं। ये चौदह पूर्व के पाठी, ज्ञानोपयोगी, संसार से उद्विग्न, अनित्य आदि भावनाओं को भानेवाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं।

यहाँ तक कि ये तीर्थकरों के पंचकल्याणकों में भी आद्योपान्त नहीं रहते। मात्र दीक्षाकल्याणक के अवसर पर तीर्थकर देव के वैराग्य की अनुमोदना करने के लिए आते हैं।

पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओं में क्रम से सारस्वत आदि देवगण रहते हैं। पूर्वोत्तर कोण में सारस्वतों के विमान हैं। पूर्व दिशा में आदित्यों के विमान हैं। पूर्व-दक्षिण दिशा में वह्नि देवों के विमान हैं।

दक्षिण दिशा में अरुण विमान हैं। दक्षिण-पश्चिम कोने में गर्दतोय देवों के विमान हैं। पश्चिम दिशा में तुषित देवों के विमान हैं। उत्तर-पश्चिम दिशा में अव्याबाध देवों के विमान हैं और उत्तर दिशा में अरिष्ट देवों के विमान हैं।

ये सभी स्वतंत्र हैं, किसी इन्द्र के आधीन नहीं हैं। सब समान हैं। इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

द्विचरमशरीरी

ये लौकान्तिक देव एक चरमशरीरी होते हैं। अब प्रश्न होता है कि और भी कोई चरमशरीरी होते हैं क्या? इसका उत्तर आगामी सूत्र में दिया जा रहा है

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

विजयादि दो चरमवाले होते हैं।

तात्पर्य यह है कि विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानों में द्विचरम होते हैं। इनमें एकप्रकारता इसलिए है कि सभी पूर्व सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र हैं। सर्वार्थसिद्धि नाम से ही सूचित होता है कि वहाँ के देव सर्वोत्कृष्ट हैं और एकचरम हैं।

द्विचरमत्व मनुष्यदेह की अपेक्षा है अर्थात् विजयादिक से च्युत होकर सम्यग्दर्शन को कायम रखते हुए मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, फिर संयम की आराधना कर विजयादिक में उत्पन्न होते हैं। फिर च्युत होकर मनुष्यभव धारण कर मुक्त हो जाते हैं। इसतरह मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमत्व है, वैसे तो दो मनुष्यभव तथा एक देवभव मिलाकर त्रिचरम गिने जा सकते हैं।

जो देव अहमिन्द्र होने के साथ-साथ जन्म से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, उनका यहाँ आदि शब्द से ग्रहण किया है। इसलिए विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र देव मनुष्य के दो भव लेकर मोक्ष जाते हैं अर्थात् विजयादिक से चय कर मनुष्य होते हैं। फिर संयम धारण कर पुनः विजय आदि में जन्म लेते हैं। फिर वहाँ से चयकर मनुष्य हो, मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसतरह वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं; क्योंकि मनुष्यभव से ही मोक्ष मिलता है, इसलिए मनुष्यभव को चरमदेह कहते हैं।

यहाँ इतना विशेष जानना कि अनुदिश तथा चार अनुत्तरों के देव एक भव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं। यहाँ अधिक से अधिक

दो भव बतलाये हैं, इसी से सर्वार्थसिद्धि का ग्रहण यहाँ नहीं किया; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के देव अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं। इसी से उनके विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि सार्थक है। वे एक ही भव धारण करके मोक्ष जाते हैं। त्रिलोकसार में लिखा है कि सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिक देव, सब दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोकपाल, इन्द्राणी शचि, ये सब एक मनुष्यभव धारण करके मोक्ष पा जाते हैं।

तिर्यचगति

नारकी, मनुष्य और देवों का वर्णन हुआ। अब संसारी जीवों में तिर्यच ही शेष रहते हैं; अतः अब उनका वर्णन आरंभ करते हैं।

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

उपपाद जन्मवाले देव, नारकी और मनुष्यों के सिवाय बाकी जो संसारी जीव हैं, वे सब तिर्यच हैं।